ओ३म्

प्रह्लाद-स्मारक

वैदिक-व्याख्यान-माला

[प्रथम स्तबक]

सम्पादक
डॉ० कृष्ण लाल
उपाचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

० प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति
तथा
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

ओ३म्

प्रह्लाद-स्मारक

वैदिक-व्याख्यान-माला

[प्रथम स्तबक]

सम्पादक
डॉ० कृष्ण लाल
उपाचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति
तथा
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

प्रकाशक :
डॉ० प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति
विश्वनीड, ई ६३७, सरस्वती विहार,
दिल्ली-११००३४

तथा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : १०००
सं० २०३६ (११ सितम्बर १९८२)

मूल्य : रु० १५.००
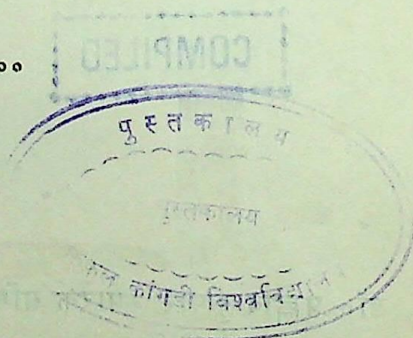
मुद्रक :—
श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी, (अमर प्रिंटिंग प्रेस),
५/१५, डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

प्राक्कथन

डा० प्रह्लादकुमार स्मारक समिति द्वारा प्रकाशित वेद विषयक चार व्याख्यानों को विद्वत्समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते समय मुझे परम सन्तोष एवं सुख का अनुभव हो रहा है। डा० प्रह्लादकुमार के अकालनिधन से एक उदीयमान प्रतिभा हमारे बीच से चली गई। वेदाध्ययन के लिए उनका जीवन समर्पित था। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए डा० प्रह्लादकुमार स्मारक समिति द्वारा प्रतिवर्ष किसी एक उद्भट वैदिक विद्वान् द्वारा विशिष्ट व्याख्यान का आयोजन सुतरां श्लाघनीय है, और उससे भी श्लाघनीय है उस व्याख्यान के प्रकाशन का निर्णय। व्याख्यान में एक स्थान विशेष के लोग ही उपस्थित हो सकते हैं और उनमें भी सभी नहीं, रुचि विषय में कितने ही लोगों की हो सकती है पर उनका पता लगाना सरल नहीं। व्याख्यान जब प्रकाशित हो जाता है तो सभी को वह उपलब्ध हो जाता है, वह दिल्ली तक ही सीमित नहीं रहता, देश-विदेश में फैल जाता है और यही अभीष्ट है भी। विद्वानों का परिश्रम विद्वानों की दृष्टि में आये यह आवश्यक है। तभी उसका सही मूल्यांकन भी हो सकता है—विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।

वेद सहस्राब्दियों से भारतीय जनजीवन का अभिन्न अङ्ग रहा है। अनेक पीढ़ियों ने अपने को इसी के अर्पण किया। धर्म का मूल इसे माना गया। ब्रह्म की अनुकृति एवं उसकी प्राप्ति का उपाय (प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य (=ब्रह्मणः) वेदः—भर्तृहरि) इसे कहा गया। पाश्चात्य जगत् का जब इससे परिचय हुआ तो स्वाभाविक रूप से उसमें यह जिज्ञासा जगी कि वह क्या ज्ञान राशि है जिसे भारत ने सदियों से इतना महनीय माना है। उसी जिज्ञासा के परिणामस्वरूप वेद के अध्ययन की परम्परा पाश्चात्य जगत् में प्रारम्भ हुई। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपना सारा का सारा जीवन वेद के अध्ययन में लगा दिया। वेदों का संस्करण-सम्पादन उन्होंने किया, अनुवाद इनका अपनी भाषा में किया, इन पर गहन शोध और मनन किया। अपने ढंग की अपनी ही एक वैदिक अध्ययन परम्परा वहाँ चल निकली। केवल वेदों को ही नहीं, सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन को इस परम्परा के विद्वानों ने अपना विषय बनाया। वैदिक

देवशास्त्र, वैदिक अर्थ पद्धति, वैदिक व्याकरण आदि अनेक विषयों पर इस परम्परा ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

वेद का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि अध्येता की दृष्टि व्यापक हो एवम् उसके अध्ययन की परिधि विस्तृत हो। कितने प्रखर शब्दों में भगवान् वेदव्यास ने कहा है—

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति

अल्पज्ञ व्यक्ति से वेद डरता है कि वह मुझपर प्रहार कर देगा।'

इस परिप्रेक्ष्य में वेद के अध्येता के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह जानने का प्रयास करे कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पर क्या कहा है, उनका चिन्तन इस पर कैसा रहा है। हो सकता है जो कुछ उन्होंने कहा है उसमें कुछ अंश ग्राह्य हों ही। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, डच आदि अनेक भाषाओं में वेद विषयक अपार सामग्री ग्रन्थों और लेखों आदि के माध्यम से प्रकाशित हुई हैं जिसमें बीसियों विद्वानों की आजीवन साधना समाहित है।

डा० प्रह्लादकुमार स्मारक समिति वर्धापन की पात्र है कि उसने व्याख्यानकर्ताओं में डा० सूर्यकान्त, डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार जैसे विद्वानों को व्याख्यानों के लिए निमन्त्रित किया जिन्हें पूर्व और पश्चिम इन दोनों की वैदिक व्याख्यान पद्धतियों का निकट से परिचय है। आशा है समिति भविष्य में भी इस परम्परा का पालन करती रहेगी।

चार व्याख्यान विद्वानों के सामने हैं। विद्वान् वक्ताओं ने अपने अपने विषय पर गम्भीर चिन्तन इनमें प्रस्तुत किया है। वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में यह चिन्तन निस्सन्देह नवीन प्रेरणा का सञ्चार करेगा। वैदिक व्याख्यान माला से बढ़ कर डा० प्रह्लादकुमार का और कोई स्मारक नहीं हो सकता था।

सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

२.६.१९८२

हमारी योजना

१५ जून १६७७ को डॉ० प्रह्लाद अपनी ३२ वर्षों की अल्पायु में किसी भयंकर रोग के आक्रमण के शिकार होकर अकस्मात् इस संसार से विदा हो गये। डॉ० प्रह्लाद को संस्कृत साहित्य, विशेष रूप में वैदिक साहित्य पर अद्भुत अधिकार था। अभी उनकी शुकनासोपदेशः, वैदिक उदात्त भावनाएँ तथा ऋग्वेदेऽलंकाराः—तीन पुस्तकें ही विद्वानों के सम्मुख प्रकट हुई थीं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके कुछ लेख भी संस्कृत-अध्येताओं को पढ़ने को मिले थे। विद्वत्-समाज को उनसे अनेक आशाएँ थीं।

डॉ० प्रह्लाद अपने अद्भुत व्यक्तित्व, सुमधुर स्वभाव व सौम्य चरित्र के कारण अपने सम्बन्धियों, मित्रों, गुरुजन, सहयोगियों व शिष्यों में अत्यन्त प्रिय थे। असमय में उनके संसार छोड़कर चले जाने के कारण सब अत्यधिक दुःखी हो उठे। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाकर इस दंश को दूर करने का उन्होंने निर्णय लिया। परिणामतः उनकी मृत्यु के चौथे ही दिन चौथे के संस्कार के समय डॉ० प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति का गठन हुआ।

डॉ० प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति के तत्त्वावधान में निम्नलिखित कार्यक्रम निश्चित किये गये :

क. डॉ० प्रह्लाद की स्मृति में एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन।

ख. प्रति वर्ष ११ सितम्बर को उनके जन्म दिवस पर उनकी स्मृति में वेदों अथवा वैदिक-साहित्य के किसी अधिकारी विद्वान् के एक लिखित व्याख्यान का आयोजन।

ग. उन द्वारा लिखित अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन तथा

घ. दिल्ली विश्वविद्यालय में वेद विकल्प लेने वाले छात्रों को उनके नाम से छात्रवृत्ति।

सबने सोचा कि इन कार्यक्रमों को आयोजित करके हम उस मेधावी युवक के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि व्यक्त कर सकेंगे। वस्तुतः यह समिति उस

विद्वान् व्यक्ति की योजनाओं व आकांक्षाओं को प्रतिफलित करने के लिए ही कृतसंकल्प है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त स्वाभाविक रूप से धन की आवश्यकता थी। समिति के सीमित साधनों द्वारा यह सम्भव नहीं था। किन्तु वेदविद्या-नुरागी महानुभावों ने हमारी सहायता करके यह कमी अनुभव न होने दी। सभी दानी महानुभावों के हम हृदय से आभारी हैं। हमें आशा है कि ऐसे सज्जनों की सहायता भविष्य में भी मिलती रहेगी, जिससे उक्त कार्यक्रम चलते रहेंगे। अब तक यह समिति अनेक छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान कर चुकी है।

डॉ० प्रह्लाद के दिवंगत होने के अगले वर्ष ही ११ सितम्बर १९७८ को उनकी स्मृति में व्याख्यान का आयोजन किया गया। अब तक डॉ० सूर्यकान्त, पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, पं० मनोहर जी विद्यालंकार जैसे उद्भट विद्वानों के व्याख्यान हो चुके हैं। यह उल्लेखनीय है कि इन व्याख्यानों की अध्यक्षता पं० क्षितीश जी वेदालंकार, डा० वेदप्रताप वैदिक, श्रीमती सीता नाम्बियार (प्रधानाध्यापिका दौलत राम महाविद्यालय, दिल्ली) तथा श्री ज्ञानप्रकाश जी चोपड़ा (प्रधानाध्यापक हंस राज महाविद्यालय, दिल्ली) ने की तथा श्री केदारनाथ साहनी (भू० पू० मुख्य कार्यकारी पार्षद दिल्लीप्रशासन, दिल्ली) डा० निरूपण विद्यालंकार (भू० पू० उपकुलपति तथा आचार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) तथा डॉ० सत्यव्रत (अध्यक्ष तथा आचार्य संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) ने मुख्य अतिथि के रूप में इन श्रद्धांजलि समारोहों को अलंकृत किया।

प्रस्तुत पुस्तक इन्हीं चार व्याख्यानों का प्रथम स्तबक है। इनका सम्पादन वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा डॉ० प्रह्लादकुमार स्मारक समिति के सचिव डॉ० कृष्णलाल ने किया है। हमें विश्वास है कि यह प्रकाशन उस दिवंगत विद्वान् की स्मृति को अक्षुण्ण रखने के साथ वैदिक विद्वानों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

हम चारों सम्माननीय व्याख्यान-कर्ताओं के इस बात के लिए ऋणी हैं कि उन्होंने व्याख्यानों की पुनरावृत्ति कर, उन्हें लेखबद्ध करके हमें यथा समय देकर इस प्रयास में सहायता करके हमारा उत्साहवर्धन किया है। सब व्याख्यानों का बाह्य रूप एक सा दिखे इसके लिए सम्पादक को स्वल्प परिवर्तन भी करने पड़े हैं। फिर भी लेखकों के विचार और भाषा को पूर्णतया अक्षुण्ण रखा गया है। व्याख्यानों के आरम्भ में डॉ० सूर्यकान्त का

वैदिक ऋत और सत्य की व्याख्यारूप डॉ० प्रह्लाद कुमार के जीवन का मूल्यांकन सम्बन्धी लघुलेख है। इसके लिए हम उनके विशेष रूप से आभारी हैं। यह उल्लेखनीय है कि स्व० डॉ० प्रह्लाद कुछ समय तक डॉ० सूर्यकान्त के अन्तेवासी बनकर रहे थे।

हमारी योजना आपके सम्मुख है। इस योजना को और अधिक सफल बनाने के लिए आपके उपयोगी परामर्शों का हम स्वागत करेंगे।

डॉ० सत्यदेव चौधरी
अध्यक्ष

डॉ० प्रशान्तवेदालंकार
उत्तरापेक्षी

डॉ० प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति

सम्पादकीय

अति प्राचीन काल से वेदों को समझने का प्रयास होता रहा है। वेदों को दुरूह बनाने में दो बातों का प्रमुख योगदान रहा है—एक तो वेदों के आविर्भाव और उनकी व्याख्या के प्रयासों में प्रभूत कालान्तर है। विस्तृत अन्तराल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि (जो वेदवर्णित सभी आधारभूत तत्वों का साक्षात्कार करते थे अथवा अपनी तपस्या द्वारा हृदय में प्रज्वलित ज्ञान-ज्योति से उन्हें अनुभव करके आलोकित करते थे) नहीं रहे। दूसरे इस अन्तराल में मिथ्या धारणायें पनपती गईं, व्यक्तिगत आग्रह बढ़ते गये और उन सबको सिद्ध करने के लिये वेदों का 'प्रयोग' होता रहा क्योंकि वेदों को सभी आस्तिकों ने सर्वोच्च प्रमाण माना हुआ था। खींचतान करके भी यथा-कथञ्चित् अपने मन्तव्य की पुष्टि वेद द्वारा करने का सबका आग्रह रहा। यहाँ तक कि वेद मन्त्रों में ही श्रीकृष्ण की पौराणिक गोपियों को भी ढूंढ निकाला गया। निस्सन्देह 'वेदानां विश्वतोमुखत्वम्' प्रसिद्ध है और बहुत बार अनुभव भी किया जाता है। स्वयं यास्क ने मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक, आधियाज्ञिक, आध्यात्मिक, ऐतिहासिक आदि अनेक पक्ष स्वीकार किये हैं और उन्हें सिद्ध किया है।

परन्तु देखना यह है कि स्वयम् वेद की क्या भावना है और स्वयं मन्त्रों की सहायता से उस भावना तक कैसे पहुँचा जा सकता है। निश्चय ही इस प्रक्रिया में सभी पूर्वाग्रहों को अलग रखना आवश्यक होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेद का समस्त मानव-जाति और समग्र जीवन के लिये कोई बहुमूल्य उदात्ततम सन्देश अवश्य है। इस धारणा को भी सम्भवतया एक आग्रह कहा जाये, परन्तु यह धारणा अन्य किसी सहायता के बिना सीधा मन्त्रों तक पहुँचने का प्रयास करने से बनती है। हाँ, तथाकथित नामों की यौगिकता—उनके निर्वचनपरक अर्थों—के लिये यास्कीय निरुक्त का आश्रय लेना सहायक होता है। निरुक्त तथा किसी प्रकार की भी निर्वचन-प्रक्रिया को स्वीकार किये बिना सम्भवतया वेद को समझने में सफलता मिल ही नहीं सकती। अतिप्राचीन ब्राह्मणकाल से लेकर अब तक सभी व्याख्याकारों ने

किसी न किसी रूप में निर्वचन-प्रक्रिया का आश्रय अवश्य लिया है। आधुनिक व्याख्याकारों की शब्दावली में उसे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान अथवा तुलनात्मक देवशास्त्र भी कहा गया है। परन्तु बहुत बार देखा गया है कि इस तुलनात्मकता की धुन में वैदिक भावनाओं को भूलकर विचित्र साम्य उपस्थित कर दिये जाते हैं और उनके आधार पर वैसी ही अनहोनी ऐतिहासिक मान्यतायें। उदाहरणार्थ वैदिक कश्यप शब्द की तुलना कैस्पियन सागर से करके यूरोप-स्थित इस सागर के आस पास के क्षेत्र को आर्यों का मूल निवास बताया जाता है और किसी काल्पनिक भारोपीय भाषा की कल्पना कर ली जाती है जिसमें वेद से अत्यन्त परवर्ती यूरोपीय भाषाओं को आधार बनाया जाता है।

वेद के अर्थ को किस प्रकार इन विभिन्न प्रभावों से मुक्त करके शुद्ध रूप में समझा जाये—इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वेदाध्ययन और वेदव्याख्या की तर्कसंगत पद्धति पर बल देना अत्यन्त आवश्यक है। इससे सब प्रकार की वेद सम्बन्धी मिथ्याधारणाओं के निराकरण और उचित वास्तविक वैदिक भावनाओं को समझने में सहायता मिलेगी।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि आधुनिक युग में वेद को समझने में समय लगाने की आवश्यकता ही क्या है? इसके अनेक कारण बताये जा सकते हैं, परन्तु हम अपना ध्यान दो प्रमुख कारणों पर केन्द्रित करेंगे। वस्तुतः वेद का इतना परिशीलन होने के पश्चात् भी यह निश्चित रूप से नहीं माना जाता कि वेद का इदमित्थम् अभिप्राय है। विद्वानों में पर्याप्त मतभेद व्याप्त है। यह भी कहना कठिन है कि कभी वेद के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति आ भी सकेगी या नहीं। इसी कारण वेद का तर्कपूर्वक अध्ययन करना और परवर्ती आग्रहों से रहित होकर समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। जिस साहित्य की महत्ता और प्राचीनता सारे भारतीय वाङ्मय में स्वीकार की गई हो और पाश्चात्य विद्वानों को भी जिसका महत्त्व स्वीकार करना पड़ा हो—उसे तर्कपूर्वक पूर्णतया समझे बिना राष्ट्र के लिये उसका लाभ न उठाना तथा विद्वानों के लिये उसे आलोकित न करना कर्तव्यच्युति होगी। दूसरे, वेदों की भावनायें किसी काल अथवा देश-विशेष तक सीमित नहीं हैं। समस्त मानवजाति के लिये ज्ञान-विज्ञान के तत्त्वों का इनमें अन्वेषण करना मानवमात्र का, कम से कम हमारा (जो उसके निकटतम हैं) कर्तव्य हो जाता है।

जिन डॉ० प्रह्लाद कुमार की स्मृति में प्रतिवर्ष इन वेद-विषयक व्याख्यानों का आयोजन किया जाता है, वे वेद के उदीयमान उद्भट विद्वान् थे। उनकी

'ऋग्वेदेऽलंकाराः' और 'वैदिक उदात्त भावनायें' इस तथ्य का निदर्शन हैं। यदि काल ने बत्तीस वर्ष की अल्पायु में उन्हें हमसे छीन न लिया होता तो उनसे इस क्षेत्र में महान् आशायें थीं। इस विषय में उनकी अनेक भावी योजनायें थीं।

यह तो मैं नहीं कह सकता कि ऊपर वेदाध्ययन-सम्बन्धी जिन उद्देश्यों की चर्चा की गई है, उनकी पूर्ति हमारे इस कार्यक्रम में हो रही है, परन्तु इतना निश्चित है कि उस दिशा में यह एक सुनिष्ठित प्रयास है।

अब तक जिन चार व्याख्यानों का आयोजन हुआ है, उन्हें विद्वान् एवं जिज्ञासु पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त सन्तोष की अनुभूति हो रही है। यदि ये व्याख्यान वेदसम्बन्धी जिज्ञासायें उठाने और उनके यथासम्भव समाधान में कुछ भी सफल होते हैं तो यही इनकी सार्थकता होगी।

इस सारी योजना में समिति के संरक्षक आचार्य डॉ० सत्यव्रत शास्त्री का प्रोत्साहन और सुझाव हमें प्राप्त होते रहे हैं। हमें आशा है कि उनका मार्गदर्शन हमें भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा। उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

जिन विद्वानों के व्याख्यान इस पुस्तिका में संगृहीत हैं, उनके सहयोग के बिना यह पुस्तिका अस्तित्व में ही नहीं आती। उन्होंने अपने ज्ञानयज्ञ का कुछ अंश समिति को प्रदान किया, इसके लिये उनका हृदय से धन्यवाद करना चाहता हूँ।

कृष्ण लाल
(सम्पादक)
सचिव,
डॉ० प्रह्लाद कुमार स्मारक
समिति

प्रथम व्याख्यान

वैदिक ऋत तथा सत्य, सरस् तथा सोम[1]

डॉ० सूर्यकान्त

ऋत तथा सत्य

'प्रह्लाद' यह नाम याद आते ही ऋग्वेद का १०. १९०.१ मन में आ जाता है :—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।

अभीद्ध अर्थात् प्रदीप्त तपस्या से ऋत एवं सत्य का जन्म हुआ है ।

वैदिक एवं संस्कृत दोनों में ऋत और सत्य दोनों शब्द प्राय: पर्याय की तरह आते हैं । किन्तु दोनों के मौलिक अर्थ में मार्मिक भेद है, ठीक उतना जितना कि लावण्य एवं स्निग्धता में । आंख दोनों पर मर जाती है; किन्तु लावण्य में सेंधा नमक की शोख रेखाएँ जादू खेलती हैं जब कि स्निग्धता में चिकनाई अथवा स्नेह का मीठापन भरा रहता है ।

ऋत की व्युत्पत्ति गत्यर्थक ऋ धातु से है जब कि सत्य का जन्म सत्तार्थक अस् धातु से हुआ है ।

ऋत की कहानी प्राचीन कहानी है, इतनी ही प्राचीन जितनी कि आदम एवं ईव की; इडा एवं मनु की । आदम को देख ईव चल पड़ी थी; मुंह की खा गई थी ।

हां, तो ऋत सचमुच बहुत पुराना है । चीनी में ऋत को तओ कहते हैं ।

ऋत वह है जो गतिशील है, गतिमय है, या स्वयं गति का परिष्कृत रूप है ।

गतिशील तो भगवान् राम भी थे, सीता माता भी थी; वसिष्ठ वामदेवादि सभी मुनि गतिशील थे । गति की धुन में आ वामदेव तो कह उठे

---

१. इस प्रथम व्याख्यान में डॉ० सूर्यकान्त ने पहले डॉ० प्रह्लाद कुमार के जीवन और स्वभाव की व्याख्या श्रद्धाञ्जलि रूप में वैदिक ऋत और सत्य से की थी—साथ ही सरस् तथा सोम शब्दों की भी व्याख्या की थी । दोनों यहाँ अविकल रूप में दिए जा रहे हैं ।

थे, 'अहं **मनुरभवं सूर्यश्च**' इन सब की गति तपस्या के रूप में चर्चित हुई थी; परोपकार के रूप में पनपी थी।

किन्तु गति एक और भी है जो अत्यन्त व्यापक है; इतनी व्यापक जितना कि श्रीकृष्ण का विराट् रूप। तभी तो षोडशावतार श्रीकृष्ण क्या तपस्या में, क्या राजनीति में, क्या बहादुरी में, क्या विरति में और क्या सोलह सहस्र गोपियों के 'बावरे प्यार' में एक दिन नहीं, एक घड़ी नहीं किन्तु हर दिन और हर घड़ी रमे रहते थे।

यह व्यापक गति और इसमें इतना ही व्यापक रमण—सर्वतोमुखी करनी और विश्वतोमुखी रति—इसे ही हम ऋत के नाम से पुकारते हैं।

निश्चय ही ऋत वह गति है जो स्वयं भगवान् की है; जो धरती-अंबर, आकाश-पाताल में हर घड़ी और हर क्षण गूंजती सुनाई पड़ती है। नाद इसी का दूसरा नाम है। इसी गति, इसी नाद के अथवा वैदिक पदावली में इसी ऋत के सहारे ब्रह्माण्ड चल रहा है। इसी के बल पर भगवान् का सुदर्शन चक्र अनवरत प्रवर्तित रहता और विश्व को साकार बनाए रखता है। गति का यह सुदर्शन चक्र यदि थम जाए तो ब्रह्माण्ड विध्वस्त हो जाय। भगवान् की असीम साइकल डिग जाय और दुनिया 'त्राहि त्राहि' में खोई जाय।

तो हाथ लगा यह कि ऋत वह है जो गतिमान् है; ऋत वह नर है जो करेंट का प्रतिरूप है, क्रिया की लपट है; वह जब चलता है तब दीवारों के आंखें लग जाती हैं। वह जब बोलता है तो फूल कान उठा कर सुनने लगते हैं, उसकी आवाज पर धरती पुलकित हो जाती है, उस नर की गन्ध को सूँघ कर नदियां आपे से बाहर हो जाती और हाथ नचाकर इशारे करने लगती हैं।

प्रह्लाद में इसी ऋत की चिनगारी थी, उसमें ऋत का नूर था। मुझे प्रह्लाद अच्छा लगता था। हो सकता है और लोग भी मुझ से सहमत हों।

मैं किताबी-कीड़ा भरी गरमी के उस ज्वार में भी अपनी "वैदिक डिक्शनरी'* पर आंख जोए काम में व्यग्र था। एक दोस्त आ पहुँचे और बोले '**प्रह्लाद चल बसा**'। मेरी नजरों में संस्कृत जगत् के ऋत का सूरज उस दिन डूब गया – क्योंकि कहने को तो संस्कृत ऋत सिखाती है पर, पता नहीं क्यों, वह पैदा करती है प्रायः घिनौने कंजूस, जो ऋत की गंध से कोसों दूर रहते हैं। बात कड़वी है, काश, यह झूठ हो।

---

* हाल ही प्रकाशित—ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दरिया गंज, दिल्ली

प्रह्लाद सामाजिक काम करता मरा था। उसे परोपकार की बीमारी लग गई थी जो आज के भारत में ढूंढे नहीं मिलती। बोलते तो सभी परोपकार पर हैं, सामाजिक भलाई पर हैं, पर रहते सभी इन बातों से कोसों दूर हैं। हिन्दू का लक्षण आज यह बन गया है कि वह जो कहे, चले उससे सुतरां उलटा। सब जातपात के खिलाफ हैं, किन्तु स्वतन्त्र भारत में दिल्ली की बसें भी 'शर्मा' बन कर आंखों में काजल डालती हैं। कहा जो है कि हिन्दू वह है जो कहे एक बात किन्तु करे सुतरां उसके विपरीत।

प्रह्लाद सच्चे हिन्दुओं से कुछ दूर सा था। मुझे आज तक पता नहीं है कि प्रह्लाद कौन सा शर्मा या कौन सा वर्मा था।

प्रह्लाद काम करता मरा था। प्रह्लाद परोपकार के चंगुल में मरा था। वह जनसेवा की लौ का शलभ बना था। स्नेह के अवतार शलभ के निधन पर शुरू जमाने से रातें आँसू बहाती आई हैं। इन्हें देखे तो कौन देखे। आज तो हर व्यक्ति के बोल में 'परोपकार' है हर व्यक्ति के कर्म में 'पैसा'।

सत्य उस हस्ती का नाम है जो टिकाऊ हो, मिथ्या न हो, जो स्थिर हो, तरल न हो, जो परमार्थ हो और मिथ्या न हो।

भगवान् सत्य हैं, माया मिथ्या है। जो व्यक्ति भगवान् में रम जाते हैं वे माया को खो देते हैं। माया उनसे भागती है जैसे शूर्पणखा राम से भागी थी, जैसे चांदनी अंधेरे से भाग जाती है।

प्रह्लाद सच्चा था, वह जैसा बाहर था वैसा ही भीतर भी। वह सौम्य था; उसका पिया सोम उसमें रम गया था, उसकी आंखों में उतर आया था। तभी तो जब वह बोलता था तो मुझे वेद की 'सूनृता' याद आ जाती थी। सूनृता ऋतम्भरा स्निग्धमधुर वाणी को कहते हैं। प्रह्लाद की वाणी स्नेह से लबालब भरी थी। स्नेह की बूँदों में उसके शब्द साराओर रहते थे।

ऋत और सत्य दोनों प्रह्लाद में होड़ करते दीख पड़ते थे। तभी तो उसे देखकर सज्जन बागबाग हो जाते थे। मोरार जी जैसे खुश्क महात्मा भी प्रह्लाद को देख बागबाग हो जाते थे। प्रह्लाद की चांदनी पर निन्दा के धब्बे नहीं बैठ पाते थे। उस कमल को पानी छूकर भी छू नहीं पाता था।

प्रह्लाद जैसे बच्चे कम होते हैं, पता नहीं क्यों? होते भी हैं तो लम्बे नहीं जीते। न जाने क्यों?

इसे कहते हैं दैवकी मार। दैव की इसी मार ने पुण्डरीक को मार कर विश्व के सौन्दर्य की चरम काष्ठा महाश्वेता के दिल को चलनी बना दिया

था। तब वह फूट पड़ी थी वाणी के उस आसार-प्रसार में जो दुनियाँ में अपने जैसा आप है।

दैव की मार पर महाश्वेता रोई बहुत थी। उसका हर रोम उसकी जीभ बन गया था। पर जीभ तो बात ही करती है—और इस क्षेत्र में बातों का क्या उठता है।

और तब मेरे दिल में पीर उठती है उसकी जो हर घड़ी दिल में बसा है; पर आंखों से दीखता नहीं; जो श्वास प्रश्वास की धौंकनी को अनवरत धौंकता रहता है; पर बोलता नहीं, ऐवज में कुछ मांगता नहीं; जो देह के कणकण में फूटा पड़ता है पर जिसे हाथ पकड़ नहीं पाते; जो किसी खास चेहरे को देख अवाक् हो जाता और उस पर खचित रह जाता है, पता नहीं क्यों? किस लिये? और जो आजन्म उस चेहरे से न बोल कर भी हर घड़ी उसकी याद में घुला करता है; पर तनिक भी कम नहीं होता; रत्ती भर घटता नहीं। वह भीतरी राम, कणकण में बसा राम, भीतर-बाहर, आगे-पीछे चारों ओर प्रस्फुटित राम-वही एक ऋत और सत्यमय शाश्वत राम सामने आ जाता है, जो सुन्दर-ही-सुन्दर है, जो मीठा-ही-मीठा है, और प्यारा-ही-प्यारा है।

सरस् तथा सोम—

सनातनकाल से आर्यों के घरों में सरस्वती की पूजा होती आ रही है। किन्तु सरस्वती क्या है; और वह सरस् क्या था जिसके आधार पर यह नाम पड़ा था, इन बातों पर कम विद्वानों का ध्यान गया होगा। आज हमें इन्हीं बातों पर विचार करना है।

वेदों में ऐतिहासिक पक्ष को मानने वाले विद्वान् ऋग्वेद में लगभग ४० बार आने वाले सरस्वती शब्द से इस नाम की नदी को लेते हैं, जो वैदिक युग में कुरुक्षेत्र के समीप बहा करती थी, किन्तु कलिकाल में आकर धरती में समा गई। ब्राह्मणों में जगह जगह आता है कि सरस्वती के तटों पर यज्ञयागादि की धूम रहती थी और आर्यों की संस्कृति एवं सभ्यता का विकास इसी पावन नदी की परिधि में हुआ था।

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में सरस्वती की विशालता एवं उसके असाधारण जल-प्रवाह की ओर संकेत आता है, जिसके आधार पर विद्वान् सरस्वती से सिन्धु नदी को भी लेते हैं। हो सकता है कि उनकी यह धारणा सही हो; किन्तु संभव यह भी है कि कुरुक्षेत्र-प्रवाही सरस्वती भी एक दिन

सिन्धु के समान एक विशाल नद रही हो और वह या तो स्वयं अथवा दृषद्वती के साथ मिलकर समुद्र में गिरती रही हो। कुछ भी हो, ऐतिहासिक पक्ष में इतना तो निश्चित है कि सरस्वती आर्यों की एक पावन नदी थी, जिसकी परिधि में आर्यों का यज्ञयागादि कर्मकांड फूला-फला था एवं उनके आचार-शास्त्र का विकास हुआ था। ऋग्वेद के पारायण से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों की दृष्टि में सरस्वती का वही आदर था जो कि बाद के युग में गंगा जी को प्राप्त हुआ। ऋग्वेद के २।४१।१६ मन्त्र में सरस्वती को अंबितमा (माताओं में श्रेष्ठ), नदीतमा (नदियों की मूर्धन्य) एवं देवितमा (देवियों में अग्रणी) कह कर पुकारा गया है; जिससे प्रतीत होता है कि इस नदी के प्रदेश में पनपने वाली संस्कृति में संसार को छोड़ देने के बजाय संसार में रह कर ही अभ्युदय की प्राप्ति पर बल दिया गया होगा। श्रीमद्-भगवद्गीता में ऐसी ही संस्कृति को लोक-संग्राहिका कह कर पुकारा गया है और उसमें आने वाले कुरुगार्हपत धर्म की विशेषता इसी बात में है। बौद्धों के कुरुधम्म जातक में इसी कुरुधर्म की मीमांसा है।

सरस्वती शब्द की व्युत्पत्ति देते समय सायण ने सभी जगह सरस् का अर्थ 'जल' किया है; किंतु जल तो सभी नदियों में प्रायः एक समान होता है; इसलिए यह कल्पना करना कि आर्यों ने जल की विशेषता के कारण सरस्वती की पूजा आरम्भ की थी—उचित नहीं प्रतीत होता।

बृहद्देवता के षष्ठ अध्याय के १०९ श्लोक से सरस्वती शब्द के मौलिक अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। प्रकरण इस प्रकार है :—

> उपक्रम्य तु देवेभ्यः सोमो वृत्रभयार्दितः ।
> नदीमंशुमतीं नाम्ना अभ्यतिष्ठत् कुरून् प्रति ॥१०१॥
>
> तं बृहस्पतिनैकेन अभ्ययाद् वत्रहा सह ।
> योत्स्यमानः सुसंहृष्टैर् मरुद्भिर्विविधायुधैः ॥
>
> दृष्ट्वा तानायतः सोमः स्वबलेन व्यवस्थितः ।
> मन्वानो वृत्रमायान्तं जिघांसुमरिसेनया ॥
>
> व्यवस्थितं धनुष्मन्तं तमुवाच बृहस्पतिः ।
> मरुत्पतिरयं सोम एहि देवान् पुनर्विभो ॥
>
> श्रुत्वा देवगुरोर्वाक्यम् अनर्थं वृत्रशंकया ।
> सोऽब्रवीन्नेति तं शक्रः स्वर्ग एव बलाद् बली ॥
> इयाय देवानादाय तं पपुर्विधिवत् सुराः ॥४॥

उक्त श्लोकों में वृत्र से भय खा कर सोम का कुरुप्रदेशवर्ती अंशुमती नामक नदी में प्रविष्ट होना, वहाँ पहुंच कर देवताओं द्वारा उसकी मनौती, चाटुकारिता, और अन्त में उनके द्वारा उसका पान किया जाना वर्णित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है, कि आदि काल में आर्य लोग किसी ऐसे प्रदेश में रहा करते थे जो सोम की उपज के लिए प्रख्यात था। वहाँ वे आजादी के साथ सोम पीते थे और उल्लास एवं उमंगों के ज्वार में आकर अपने इष्टदेव का गुणगान किया करते थे। बाद में पीछे की ओर से उन पर शत्रुओं का दबाव पड़ा और वे अपनी सभ्यता के प्रतीक सोमदेव को साथ लेकर कुरु-प्रदेश की ओर आगे बढ़े। कुरु-प्रदेश में पहुँच कर इन्होंने डेरे डाल दिये और यज्ञयागादि का विस्तार करने के साथ-साथ अपने आचार-शास्त्र को भी सुव्यवस्थित बनाया। सोम की उत्पत्ति वैदिक साहित्य में ऋजीक पर्वत (ऋ० ९.११३.२) पर बताई गई है जो कि, हो न हो, हिमालय की ही कोई श्रेणी रही होगी; और संभवतः यह शैलश्रेणी मानसरोवर के आसपास कहीं रही हो। तभी तो हमारे पुराणों में कैलास तथा मानसरोवर की महिमा का अनोखा विस्तार दिया गया है। सोम के इस उपाख्यान से आर्यों की उत्पत्ति का मूल स्थान ऊपरी हिमालय ठहरता है; और इस मन्तव्य से हर्नले के उस मत की पुष्टि हो जाती है जिसके अनुसार आर्य लोग भारत में उत्तर-पश्चिम की ओर से न आकर पर्वत प्रांत की ओर से इसमें उतरे थे।

अंशु शब्द का ऋग्वेद में उसके विविध रूपों में प्रयोग हुआ है और प्रायः सभी स्थलों पर उसका अर्थ सोम अथवा सोमलता है। फलतः अंशुमती का अर्थ हुआ वह नदी, जिसमें अथवा जिस पर सोम है, अर्थात् ऐसी नदी, जिसके तटों पर सोमपायी एवं सोमयाजी आर्य बसा करते थे। वैदिक साहित्य से यह बात सुव्यक्त है कि वैदिक युग में कुरुओं का प्रदेश सोमयागों के लिए ख्यात था; और हो न हो, वेदों की अंशुमती नदी इसी प्रदेश में कहीं प्रवाहित रही होगी।

सोम के उक्त उपाख्यान का संकेत ऋग्वेद में (८।९६।१३-१५) इस प्रकार आता है :—

> अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठद्
> इयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
> आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तम्
> अप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तम्
उपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः ।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसम्
इष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥

अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थे
ऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः ।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्
बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥

उक्त मंत्रों के दो शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है; और ये शब्द हैं द्रप्स एवं अंशुमती । अंशुमती का अर्थ हम 'सोमवाली' ऊपर कर चुके हैं, और इसी अर्थ की पुष्टि करता है द्रप्स शब्द । द्रप्स की व्युत्पत्ति सायण ने "द्रुतं सरतीति द्रप्सः" बताई है और उन्होंने इसकी सिद्धि में "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" का सहारा लिया है । हमें सायण की यह व्युत्पत्ति युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती और हम द्रप्स की व्युत्पत्ति गमनार्थक द्रा धातु से और भक्षणार्थक प्सा (मूल धातु भस्) धातु से मानते हैं । उदात्त स्वर के प्रत्यय पर चले जाने के कारण द्रा का ह्रस्व हो जाना स्वाभाविक है । द्रा और प्सा इन दो धातुओं से द्रप्स की निष्पत्ति मानने पर हमें इस शब्द का एक अनोखा अर्थ हाथ लगता है, जिसमें सोम पदार्थ की गतिमत्ता एवं भोज्यता ये दोनों ही विशेषताएं एक साथ संपुटित हो जाती हैं । गति एवं त्वरा का उन्नतम प्रतीक होने के कारण हमने सोम को द्रा धातु से बनाया है और भोजन का पोषकतम प्रतीक होने के कारण हमने उसका संबंध प्सा (=भस्) धातु के साथ बताया है । और निश्चय ही वैदिक आर्यों ने कुछ सोच कर ही अपने इस पावन एवं पोषक रस को यह अनोखा नाम दिया था । जिसका विश्लेषण करने पर हम जीवन के सारभूत परम रस परब्रह्म तक पहुँच जाते हैं, जो कि अपनी स्वाभाविक गति के कारण संसरणशील संसार एवं गमनशील जगत् का प्रवर्तक है और अपनी रसरूपता के कारण विश्व के अणु-अणु को प्रेमपाश में बांधे हुए है (देखो ऋ० ६ ११३) जीवन के इसी परम रस को पीकर वैदिक आर्य गा उठते थे:—

अपाम सोमममृता अभूम ।

यों तो ऋग्वेद में जगह-जगह सोम का अनूठा वर्णन आता है किन्तु ऋग्वेद का नवम मडल तो बना ही सोम की अर्चना के लिये है, और इसकी

रचना में ऋषियों ने कवित्व-कला के वे सारे ही उपकरण सजा दिये हैं जो कि अपने सीमित रूपों एवं अपनी परिमित संख्या में ही विश्व के अमर कवियों की वाणी में साकार हुआ करते हैं।

निश्चय ही कविता का प्रमुख उपकरण एक प्रकार का अलौकिक उन्मेष है, जिसका आलोक खिलते ही कवि का हृदय माया से अनावृत हो जाता है; और तब विश्व की अशेष विभूतियां उसमें एक साथ प्रतिफलित हो जातीं और उसकी विश्वरूपा वाणी को विश्वजनीन तथ्यों के प्ररोचक स्तवन के रूप में प्रवाहित कर देती हैं। इस विश्वजनीन उन्मेष का अवतरण होते ही क्रौञ्च-मिथुन एक पक्षि-मिथुन न रह कर भारतीय आचार एवं संस्कृति के पुण्यतम प्रतीक दशरथ एवं उनकी रानियों के रूप में बदल जाता है जिनके यशोगान में आदिकवि ने कल्पना के वे सारे ही अवदात तन्तु संकलित कर दिये हैं, जिनमें उपाहित होकर हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम एवं विश्ववन्द्या जानकी इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं।

और जब किसी विश्वकवि के अलौकिक उन्मेष में तवस् और त्वरा का ज्वार आता है और जब वह अपनी सूक्ष्म निरीक्षिका की अलौकिक रई से विश्व-सागर का मंथन करता है तब हमें शेक्सपीअर की वे अनूठी रचनाएं प्राप्त होती हैं, जिनमें लेडी मैकबेथ की क्रूरता का वर्णन करते समय विश्व कवि की वाणी पर वे सभी दानवी शक्तियां आ खड़ी हैं, जिन्हें देख पाठक अवाक् रह जाता है।

उन्मेष और उत्थान की यह उत्तुंगता हमें वैदिक आर्यों के सोम-वर्णन में पराकाष्ठा को पहुँची मिलती है। यहाँ पहुँचकर सोम एक पेयमात्र न रह कर आर्यों की तवस्-त्वरा का और उनके ऋत-क्रतु का उत्तम प्रतीक बन गया है और उसमें हमें आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक विभूतियों के वे सारे ही रूप निखरे हुए दीख पड़ते हैं जो कि हमें विश्वमिन्वा उषा में, मनोजवा दधिक्रा नामक अश्व में, अंतरिक्ष-प्रकंपी प्रभंजन में एवं व्योमवाही आदित्य में फैले हुए दीख पड़ते हैं। ऋग्वेद के नवम मंडल के अनुसार जीवन का चरम लक्षण गति, ऋत, क्रतु, अथवा धर्म ठहरता है और इसका उत्तम प्रतीक आर्यों ने सोम को माना है।

जीवन के गतितत्त्व को व्यक्त करने के लिये आर्यों ने सृ धातु का प्रयोग किया है, और इसी एक धातु से उन्होंने संसार (जगत्=चलने वाला), सरित् 'नदी', सरण्यु 'क्षिप्रगामी', सरपस् 'सरपट दौड़ने वाला', सरमा

'भागने वाली' (=द्रुती; द्रु 'भागना'); एवं सरयु (=सरित्) आदि की रचना की है। ऋग्वेद के ३.५३.१५-१६ मन्त्रों में प्रयुक्त हुए 'ससर्परी' शब्द की व्युत्पत्ति इसी सृ धातु से करके उसका अर्थ 'सर्पणशील वाणी' बताकर सायण ने भारत की एक अटूट विचारधारा की ओर संकेत किया है। हम 'सरस्वती' में आने वाले 'सरस्' शब्द की व्युत्पत्ति भी सृ धातु से मानते हैं और सरस् का अर्थ 'सरणशील सोम' करते हैं। द्रप्स शब्द का संकेत इसी सोम की ओर है और अंशुमती नदी में बृहद्देवता ने इसी सोमदेव का प्रवेश सूचित किया है।

फलतः अंशुमती=सरस्वती=सोमवती ये तीनों ही पर्यायवाचक शब्द ठहरते हैं; और सरस्वती का अर्थ 'जलवाली' न होकर 'सोमवाली' ठहरता है। और ज्योंही हम सरस्वती का अर्थ 'सोमवाली' समझ लेते हैं त्योंही हमारे लिये इस नदी द्वारा सिंचित-पूत प्रदेश की आर्यावर्त संज्ञा क्यों पड़ी, इस बात का रहस्य खुल जाता है; क्योंकि आर्यों के सोमसिक्त धर्म कर्म का विकास कुरुओं के इसी क्षेत्र में हुआ था; और कुरुओं के क्षेत्र की इस विशेषता को हृदयंगत करते ही हम 'श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम श्लोक में कुरुक्षेत्र को धर्म क्षेत्र क्यों कहा है' इस बात को आसानी से समझ लेते हैं।

निश्चय ही गति की दृष्टि से शब्दतत्त्व सूर्यरश्मियों से टक्कर लेता है; और उसकी इस गति को देखकर ही हमारे दार्शनिकों ने इसे विभु आकाश का गुण माना है। गुण एवं गुणी का तादात्म्य बताने के लिये उन्होंने आकाश का दूसरा नाम ही 'नभस्' रख दिया है, जिसकी व्युत्पत्ति शब्दार्थक नभ् धातु से है, जो कि उदात्त स्वर के र प्रत्यय पर चले जाने के कारण, न के अ में बदलने पर 'अभ्र' के रूप में गरजने वाले जीमूत को द्योतित करता है। वाणी की गतिमत्ता पर ध्यान देकर ही सरस्वती शब्द का दूसरा अर्थ यास्कादि ने 'सर्पणशील वाणी' किया है, और हो सकता है कि उनकी यह धारणा युक्तिसंगत हो।

किन्तु नदीवाचक सरस्वती शब्द में बृहद्देवता के अनुसार सरस् का अर्थ सोम मान लेने पर सामंजस्य की दृष्टि से सरस्वती शब्द में भी सरस् का अर्थ सोम मानना न्याय-संगत है। और जब हम सरस् शब्द की यथार्थ गरिमा को हृदयंगत करने के बाद वाणीवाचक सरस्वती शब्द पर विचार करते हैं तब हमारे सम्मुख उसका अत्यन्त ही मंगलकारी रूप उभरता है, जिसकी सोमपायी मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने सूनृता (सु+ऋता), सूनरी, ऋतंभरा, विश्व-रूपा, विश्वमिन्वा एवं ससर्परी आदि अनेक नामों से आराधना की है और

जिसके मंत्र-मोतियों की स्यूमन् (१.११३.१७) अर्थात् लड़ी अथवा मालाएं गूंथकर वे वेद-पुरुष पर चढ़ाते न अघाया करते थे। और इस तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर सरस्वती हमारी प्राकृत (प्राकृत जन-प्रयुक्त) भाषाएं न हो कर आर्यों की ऋतंभरा वैदिक वाणी ठहरती है, जो अपनी सोम-जन्य शाश्वत सर्पण-शक्ति द्वारा कल्पकल्पांतरों के प्रारम्भ में नियत रूप से आदि ऋषियों की वाणी में व्यक्त होती आ रही है और मानव को ऋत, क्रतु, एवं धर्म का मंगलमार्ग दिखाती रही है। कल्पकल्पांतरों से चली आ रही अपनी सरस्वती पूजा में हम इसी विश्ववन्द्या सरस्वती की आरती उतारते आये हैं।

ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र और आदित्य-स्तुति के सूक्त भरे पड़े हैं; और इन्द्र की स्तुति में तो वैदिक आर्यों ने सचमुच कमाल ही कर दिखाया है। इन्द्र आर्यों का अपना पुराना देव है और शुष्मता एवं पौरुष का वह ज्वलंत प्रतीक है। इन्द्र के सभी पौरुष कृत्यों का वैदिक आर्य ने सोम के साथ सम्बन्ध जोड़ा है जिसे पीकर वह वृत्र को प्रचारता और युद्ध में पछाड़ देता है। शंबर जैसे दानवों को वह हंसते-हंसते पहाड़ों से नीचे मार गिराता है। सोम पीकर इन्द्र की पोरी-पोरी में बिजली चमक जाती है और सोम पीने के उपरान्त जब वह सार्वजनिक श्रमदान में जुटता है तब अकेला ही सात-सात नदियां प्रवाहित कर देता है और उन्हें जैसे और जिधर चाहे ठेल देता है। ऋग्वेद में सोम और इन्द्र का कुछ तादात्म्य जैसा सम्बन्ध बन गया है।

इन्द्र के अनेक नामों में उसका एकनाम 'सरस्वान्' भी है; और निश्चय ही इन्द्रवाची सरस्वान् शब्द का अर्थ 'पानी वाला' न होकर 'सोम वाला' कहीं अधिक युक्तिसंगम प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्र के सहज प्रकाश का उपादान वेद के अनुसार जल न होकर सोम ही है। बृहद्देवताकार अपने इस श्लोक में :—

सरांसि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत् त्रिषु।
सरस्वन्तमिति प्राह वाचं प्राहुः सरस्वतीम्॥

परम्परागत कुछ बहकी-सी बात कह गये हैं और उनके इस कथन में हमारी आस्था नहीं है। इन्द्र के अशेष पराक्रमों में सोम-पान का महत्त्व सुव्यक्त है; और हर कोई समझदार व्यक्ति उन पराक्रमों के द्वारा स्वतन्त्र होने पर नदी के रूप में प्रवाहित होने वाले जलौघ को सरस्वान् का आधार न बताकर उन पराक्रमों के प्रवर्तक सोम को ही इन्द्र के सरस्वान् नाम का आधार मानना उचित समझेगा। उपकरण की महत्त्वख्यापना के उद्देश्य से ही इन्द्र के वज्री, वज्रबाहु, वज्रपाणि आदि अनेक नाम पड़े हैं।

इन्द्र के सरस्वान् नाम का आधार सोम होने के कारण उसका एक नाम ब्रह्मणस्पति अर्थात् ब्रह्मन्=प्रार्थना अथवा ऋक् का स्वामी भी पड़ गया है। ऋग्वेद के ८-३८-१० :—

अाहं सरस्वतीवतोर्
इन्द्राग्न्योरवो वृणे।
याभ्यां गायत्रमृच्यते ॥

मन्त्र में 'सरस्वतीवतोः' की व्याख्या 'याभ्यां गायत्रमृच्यते' के द्वारा करके वेद ने सरस्वान् शब्द के इसी अर्थ की ओर संकेत किया है।

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल का २६वां सूक्त इस देश के अध्यात्म शास्त्र में एक अनोखी कड़ी है। इसकी उत्थानिका इस प्रकार है :—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च
अहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे
अहं कविरुशना पश्यता मा ॥

अहं भूमिमददामार्याय
अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अजनयं वावशानाः
मम देवासो अनु केतमायन् ॥

ऋग्वेद के इन मन्त्रों में हमारी अद्वैतात्मक अध्यात्मविद्या का परम तत्त्व छिपा हुआ है। साथ ही 'मम देवासो अनु केतमायन्' अर्थात् 'देवता मेरे प्रकाश के पीछे-पीछे चले' उस गम्भीर ऐतिहासिक तत्त्व का निर्देश है जिसका सम्बन्ध कि हम देवताओं के द्वारा की गई सोम की खोज के प्रकरण में बृहद्-देवता में देख चुके हैं। सूक्त के मध्य में इन्द्र के द्वारा सोमाहरण का रूपक मनोरम सम्पन्न हुआ है, जिसका उपसंहार इस प्रकार किया गया है :—

आदाय श्येनो अभरत् सोमं
सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्
मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥

अर्थात् सोमाहरण के उपरांत अमूर (=विद्वान्) पुरंधि (=इन्द्र) ने सोम के उन्मेष में अराति (अ+दाता) शत्रुओं को पीछे छोड़ दिया। और जब सोमपान के अनन्तर इन्द्र को परम चैतन्य का प्रत्यक्ष हो गया तब उसे :—

गुड़ सा मीठा है भगवान्
बाहर भीतर एक समान ।।

चारों ओर मधुर रस का आसार प्रवाहित होता दीखने लगा और तब उसने अनुभव किया कि अतीत, वर्तमान, भविष्य के पदार्थ मात्र में वह स्वयं प्रवर्तक के रूप में लीला कर रहा है, और उसकी यह लीला भी, क्योंकि वह स्वयं इसे खेल रहा है, इसलिये उससे पृथक् नहीं है। ऋग्वेद का यह सूक्त अध्यात्मदर्शन के प्रवर्तक सोम की गरिमा को ख्यापित करता हुआ हमें उसकी व्युत्पत्ति की ओर भी अग्रसर करता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अपने 'सरण' (=गति) धर्म के कारण सोम का नाम 'सरस्' पड़ा, उसे पाने के कारण इन्द्र की सरस्वान् संज्ञा हुई, और उसका अपने भीतर प्रवेश होने के कारण अंशुमती की कोख सुच्ची हुई। अब आइये स्वयं सोम शब्द की व्युत्पत्ति पर।

हम भी सोम शब्द की व्युत्पत्ति अभिषवार्थक सु धातु से मानते हैं, जिसके 'सुनोति' आदि रूप चलते हैं। किन्तु साथ ही प्रेरणार्थक सू धातु से भी सोम की व्युत्पत्ति सम्भव है, जिससे 'सविता' (=चराचर का प्रेरक) आदित्य की यह संज्ञा पड़ी है। दोनों धातु अपने मूलरूप में एक रहे होंगे, क्योंकि अर्थ दोनों का वास्तव में एक ही है। बाद में सोम के प्रेरण (पीडन) में सु धातु रूढ हो गया और उसके सुनोति आदि रूप बन्ध गये जबकि प्रेरणार्थक सू धातु के सुवति आदि रूप चलने लगे। इससे भी आगे चल कर सू धातु का उत्पादन अर्थ प्रकट हुआ जिसके रूप सूते आदि प्रख्यात हुए। ग्रीक में भी हमें धातुओं का इसी प्रकार का विकास दीख पड़ता है, और इस बात से हमारी उक्त धारणा की प्रौढता होती है।

वैदिक सोम की व्युत्पत्ति में हमें ये तीनों ही धातु अपने मौलिक रूप में एक साथ सजे दीख पड़ते हैं। और जब हम अभिषवार्थक, प्रेरणार्थक एवं उत्पादनार्थक सू धातु से सोम की व्युत्पत्ति करते हैं तब हमारे सम्मुख सोम शब्द का अत्यन्त मनोहारी एवं व्यापक अर्थ उघड़ आता है, जोकि पेयपदार्थ से हटाकर हमें उस परब्रह्म की ओर ले जाता है जिसके उपहित रूप से इस लीलामय विश्व का प्रसव एवं प्रेरण हुआ है। सोम शब्द के 'प्रेरण' अर्थ पर ध्यान देते ही हमें जगत् (=चलने वाला) एवं संसार (=सरण करने वाला) इन दोनों शब्दों का यथार्थ रहस्य प्रकट हो जाता है, और जब हम संसार और सोम इन दोनों शब्दों को मिलाकर उन पर ध्यान देते हैं तब

हमें यह सोम ही संसार को प्रवर्तित करता दीखने लगता है; यह सोम ही संसार के कण-कण को आपस में संश्लिष्ट करके उन्हें धारण करता दीखने लगता है; और यही है जीवन का चरम सोमरस जिसे उपनिषदों ने—

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।

कहकर बार-बार भांति-भांति के शब्दों से याद किया है। इस सोम का आस्वादन करते ही आर्यों का हृदय अलौकिक उन्मेष से खिल उठता था और उनकी ऋतंभरा वाणी—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च

के रूप में फूट पड़ती थी। उपनिषद् के महावाक्य 'तत् त्वम् असि' का यथार्थ आशय यही है।

निश्चय ही नाना काल एवं नाना देश के सन्तों की वाणी को यही सोम-रस मुखरित करता है और उन्होंने अपनी निगूढ अनुभूतियों में इसी रस का आस्वादन करके जीवन की मर्मान्तक वेदनाओं में भी परम आनन्द का स्रोत पाया है; और सचमुच जिस प्रकार पीसने पर काष्ठमय सोम से अमर सोमरस का प्रस्रव होता है, उसी प्रकार जब कलिमय वेदना में से सच्चिद् रूप आनन्द का प्रस्राव होने लगे तभी समझो कि साधक पर 'सोम का सरूर कारगर हुआ है, नहीं तो काष्ठमय सोम तो ऋजीक पर्वत की हर झाड़ी पर फैला रहता है—उसमें अमरता कहां ? उसमें आनन्द का उद्रेक कहां ? इस प्रकार हम वैदिक युग से आज तक के सार्वदेशिक संतों की वेदना में उसी सोम का रस बहता हुआ देखते हैं, जो कि प्रकाश-पुंज इन्द्र को प्राप्त हुआ था, जिसे वामदेव और शुकदेव ने पिया था और जो हमारे ऋग्वेद के अक्षर-अक्षर में छलछलाता दीख पड़ता है।

ऋग्वेद का २-३-८ मन्त्र इस प्रकार है :—

सरस्वती साधयन्ती धियं नः
इडा देवी भारती विश्वतूर्तिः ।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदम्
अच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥

यह मन्त्र अनूठे ढंग से वाणी के तीन रूप अर्थात् इडा, सरस्वती और भारती का उद्बोधन करता है और उन्हें आर्यों के होम में सम्मिलित होने के लिये न्योतता है। ऋग्वेद के १-१८८-८ में :—

भारतीडे सरस्वति
या वः सर्वा उपब्रुवे।
ता नश्चोदयत श्रिये।

इन्हीं तीनों गतिशील देवियों से गति की भिक्षा मांगी गई है। ऋग्वेद के १-१३-९ में, १-१४२-९ में, २-१-११ में और २-३२-८ में इन्हीं तीन देवियों का आवाहन है, और इन्हीं का ऋग्वेद २-४-८ में—

आ भारती भारतीभिः सजोषाः
इडा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक्
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु।।

धरती, अन्तरिक्ष एवं आदित्य-संबन्धी देवताओं के साथ आवाहन किया गया है। निश्चय ही वेदों की इडा नामक पृथिवी-स्थानीय वाणी हमारे उन शास्त्रों का प्रतीक है जो हमें भरणपोषण की विद्या सिखाते हैं और जिनका हमारे आचार-शास्त्र में निम्नतम स्थान है। मध्यम-स्थानीय सरस्वती वाणी हमें सोमसिक्त कर्मकांड की प्रक्रिया सिखाती है। जोकि हमें इहलोक-से ऊपर उठाती और परलोक की ओर अग्रसर करती है। भारती, जिसका सीधा सम्बन्ध भरक अर्थात् भरण करने वाले आदित्य के साथ है, हमारे पापपुंज का विध्वंस करती और हमें आत्मालोक से उद्भासित करके परब्रह्म में एकरस कर देती है।

हमारे ऋषियों ने कृषिविद्या, अश्वविद्या, धनुर्विद्या आदि विद्याओं के परिज्ञान के लिये नाना ग्रन्थ रचे हैं। इडा नाम से हम इन्हीं सब विद्याओं को पुकारते हैं। किन्तु ये सभी विद्याएं हमारे पार्थिव जीवन की अर्चा-चर्चा करने के कारण वेद-वाणी में सम्मिलित न हो सकीं, क्योंकि वेद नाम ज्ञान का है और ज्ञान का विषय हमने पुरातन काल से चैतन्य आत्मा को बनाया है न कि मट्टीरूप शरीर को; जो कि मही का एक खिलौना होने के कारण मट्टी ही में मिल जाता है। इस खिलौने की भी एक कीमत है, और बालक तो जान ही खिलौने पर देते हैं। किंतु मतिमान् पुरुष खिलौने पर जान देते नहीं देखे गये और बालकों को आज तक मतिमान् किसी ने गिना नहीं है। हमारे देश में सनातन काल से इस शरीर को "दस द्वारे का पूतरा" कह कर ही पुकारा गया है और इस 'पूतरे' को आगे चलाने वाली विद्याओं को भी हम आज तक उसी दृष्टि से देखते आये हैं जो कि एक मनस्वी की एक साइकल के प्रति होती है। फलतः ईशोपनिषद् ने इडा विद्या की ओर

संकेत न करके अपरा विद्या और परा विद्या का ही निरूपण किया है। इनमें अपरा विद्या हमें कर्मकाण्ड की प्रक्रिया सिखाती और अपना पर्यवसान क्रिया में पूरा कर देती है, जो कि क्रिया आत्मा को शुद्ध करने वाली और लोक का योगक्षेम करने वाली है। अपरा विद्या के आकर ग्रन्थ हमारी चार संहिताएँ हैं और हमारे ब्राह्मण ग्रन्थों में इसी की चर्चा की गई है। हमारी मध्यमस्थानीय सरस्वती यही है और हम आर्यों ने आदिकाल से अपने गृहस्थाश्रम में इसी सरस्वती की वन्दना करते हुए सोमसिक्त यज्ञयागादि का अनुष्ठान करना अपना नैत्यिक कर्तव्य कर्म माना है। हमने कर्मकाण्डमयी इस अपरा विद्या के ऊपर एक परा विद्या को माना है जो हमें भवसागर से पार ले जाती और परात् पर अपार ब्रह्म में एक कर देती है। कर्मकाण्डमयी वेदविद्या का सार इसी पराविद्या में है। और क्योंकि पराविद्या का सम्बन्ध सीधा आत्मा से है इसलिये हम इसे आत्मविद्या अथवा अध्यात्म विद्या के नाम से भी पुकारते हैं। और क्योंकि वास्तव में यह एक विद्या न होकर एक प्रकार का दिव्य प्रकाश है, जिसके खिल जाने पर हम सच्चित् को जान नहीं लेते अपितु उसे देख लेते, पी लेते एवं आत्मसात् कर लेते हैं इसलिये हमारे पुरखाओं ने इसका उद्भव स्वप्रकाश स्वरूप आदित्य से माना है, जो विश्व का भरणपोषण करने के कारण 'भरत' कहलाता है। उसी भरत के नाम पर हमारी इस पराविद्या का नाम 'भारती' पड़ा है।

और जब हम अपनी इडा, सरस्वती, भारती रूप वाणी का इन्हीं की अनुपाती अर्थविद्या, अपरा विद्या एवं परा विद्या के साथ सामंजस्य बिठाते हैं तब हमें अपने मनीषी पुरखाओं की त्रयी (ऋ० वे० ३।५६) का रहस्य प्रकट हो जाता है, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अपने ब्राह्मण ग्रन्थों में अपरा विद्या की प्ररोचना की थी और अपने आरण्यकों में पराविद्या की ओर एक कदम आगे बढ़ाकर अपनी उपनिषदों में परम सौख्यमय भारती रूप परा विद्या का प्रदीप प्रकाशित किया था। क्योंकि निश्चय ही यदि हमारे पूर्वजों ने वेदों और ब्राह्मणों में स्थूल कर्मकाण्ड की मीमांसा की है तो उन्होंने आरण्यकों में वैदिक कर्मकाण्ड के सूक्ष्म रूप का विवेचन करके उपनिषदों में उसका पर्यवसान ज्ञान के आलोक में कर दिया है। इस दृष्टि से देखने पर हमारा अशेष भौतिक साहित्य इडा में आ जाता, समग्र वैदिक साहित्य अर्थात् चारों वेद और सारे ब्राह्मण सरस्वती में आ जाते, और सारा आत्मिक साहित्य, अर्थात् सारे आरण्यक और सारी उपनिषदें भारती में आ जाती हैं। त्रयी के इसी मांगलिक उपक्रम से मन्त्रमुग्ध होकर आर्यों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन

तीन देवों की तीन कालों की, तीन लोकों की, और इन सब में प्रवर्तमान सत्य, शिव और सुन्दर इन तीन तत्त्वों की उत्थानिका की थी।

पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय एवं द्युलोकस्थानीय इडा, सरस्वती, भारती का प्रकाशन क्रमशः गायत्री मन्त्र की भूः, भुवः, स्वः इन तीन महा-व्याहृतियों से होता है। इसलिये गायत्री मन्त्र को हमने वेदों का मूर्धन्य माना है और इसी के जप में सारे जपों का पर्यवसान बताया है। इडा, सरस्वती, भारती रूप भूः, भुवः, स्वः इन तीन धाराओं के पावन संगम पर त्रिपाद् गायत्री का उद्भव हुआ है, जिसमें मुद्रित होकर यह सौख्यमय आदित्य-ब्रह्म हमें किसी ऐसे बिन्दु की ओर आकृष्ट करता है जिसका रूप नहीं, नाम नहीं, धाम नहीं और जो अपनी इसी 'नेति नेति' की विशेषता के कारण सभी रूपों, सभी नामों एवं सभी धामों में रसरूप से विराजमान है। इडा, सरस्वती एवं भारती की सम्मिलित तान त्रिपाद् गायत्री की दिव्य मुरली पर साकार हुआ करती है; और हमारे ऋषियों ने वाणी-मुरली की भिक्षा शुन और सीर नामक देवताओं से ऋग्वेद के ४।५७।५ मन्त्र में इस प्रकार मांगी है :—

> शुनासीराविमां वाचं जुषेथां
> यद् दिवि चक्रथुः पयः ।
> तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥

निश्चय ही शुन और सीर दोनों कृषि के अधिष्ठातृदेव हैं, जिनसे वाणी का आस्वादन करने की और दिव्य जल से उसे रसीली बनाने की प्रार्थना की गई है। इसी दिव्य रस से रसित होकर वाणी मधुमती बनती है (३.५७.५) और इसी से परिपूत होकर वह रण्य बनती है; और —

> प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते (३.५५.७)

रमणीय वाणी वाले व्यक्ति ही रमणीय कर्म किया करते हैं। शुन का अर्थ मंगलकारी हल, एवं सीर का अर्थ शुन को धरती माता के साथ बांधने वाली हलकी फाली है; और यह बात सर्वसम्मत है कि मानवजगत् का मंगल करने वाली कृषि ही धरती माता के साथ एक स्थान पर संबद्ध करके हमें सभ्यता का पाठ पढ़ाती एवं नागरिकता की ओर अग्रसर करती है। फलतः हमारे ऋषियों ने सीर (सि=बांधना) ही में मानवसमाज का शुन अर्थात् मंगल (समृद्ध होना) माना था और इन्हीं दोनों के साथ अपनी इडा, सरस्वती, भारती-रूप वाणी का गंठबन्धन किया था। कृषि अर्थात् कर्म के साथ विद्या और इन दोनों के द्वारा कल्याण की प्राप्ति ही हमारे वेदों का सार है।

द्वितीय व्याख्यान

सायण, महीधर, मैक्समूलर-मैक्डॉनल तथा ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-शैली

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार

(क) प्राचीन होते हुए भी हमारा वेदों से परिचय बहुत देर बाद हुआ है

वेदों को हिन्दू समाज अपौरुषेय मानता है। कहते हैं कि वेद सृष्टि के आदि में हुए। जो-कुछ हो, परन्तु हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारा वेदों से परिचय लगभग २०० वर्ष पहले ही हुआ है वेदों से हमारा परिचय तभी से हुआ, जब अंग्रेज भारत में आये। उससे पहले हम वेदों को नाममात्र से जानते थे। स्थिति यह हो गई थी कि हम संस्कृत के हर ग्रन्थ को वेद समझने लगे थे। पुराणों, स्मृतियों तक को वेद कह देते थे। संस्कृत में जो-कुछ लिखा था, वह सब वेद था।

अगर वेद-मन्त्रों के विषय में किसी को कुछ ज्ञान था, तो वह मन्त्र-मात्र का ज्ञान था। दक्षिण में ऐसे अनेक घराने थे जिनमें वेद याद किये जाते थे, परन्तु उन वेद-मन्त्रों का कुछ अर्थ भी है यह कोई नहीं जानता था। वेद हम तक कैसे चले आये, यह यद्यपि आश्चर्य का विषय है तो भी जिन लोगों के माध्यम से चले आये, वे वेद के शब्द-मात्र को जानते थे, अर्थ से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

अर्थ के विषय में 'निरुक्त' (१-६-१८) में वेद-मन्त्र का उद्धरण देते हुए लिखा है :

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

एक समय था, जब शास्त्रों को लोग रटा करते थे; परन्तु जो-कुछ रटा है उनमें क्या कहा है, यह नहीं जानते थे। ऐसे लोगों के विषय में किसी ने ठीक ही कहा है :

यथा खरश्चन्दन-भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथाहि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति ॥

परन्तु इतने से उन लोगों की महिमा कम नहीं हो जाती जिन्होंने वेदों को उस काल में, जब छापेखाने नहीं थे इतना सुरक्षित रखा कि वेद-मन्त्रों की एक मात्रा भी लुप्त नहीं हुई।

वेद-मन्त्रों को सुरक्षित रखने के लिये जो उपाय किए गये थे वे आजकल की गणित की टैक्नीक के Permutation and combination कहे जा सकते हैं। प्रत्येक वेद-मन्त्र को स्मरण रखने तथा उसमें एक मात्रा का भी लोप या परिवर्तन न हो सके, इसके लिये उसे १३ प्रकार से याद किया जाता था। याद करने के इस उपाय को दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्रकृति-पाठ तथा विकृति-पाठ। प्रकृति पाठ का अर्थ है—मन्त्र को, जैसा वह है ठीक वैसा ही याद कर लेना; विकृति-पाठ का अर्थ है—उसे तोड़-तोड़ कर, पदों को आगे पीछे से, दोहरा-दोहरा कर, भिन्न-भिन्न प्रकार से याद करना। याद करने के इन उपायों को १३ भागों में बाँटा गया था। वे हैं—१. संहिता-पाठ, २. पद-पाठ, ३. क्रम-पाठ, ४. जटा-पाठ, ५. पुष्पमाला-पाठ, ६. क्रम-माला-पाठ, ७. शिखा-पाठ, ८. रेखा-पाठ, ९. दंड-पाठ, १०. रठा-पाठ, ११. ध्वज-पाठ, १२. घन-पाठ, १३. त्रिपद घन-पाठ। पाठों के इन नियमों को व्याडि ऋषि ने अपने ग्रन्थ विकृतिवल्ली में विस्तार से लिखा है। इन पाठों का उदाहरण श्री वीरसेन वेदश्रमी ने १९७७ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'गायत्री-मन्त्र प्रकृति-विकृति पाठ' में दिया है।

वेदों की रक्षा के लिए किये गये प्रयत्नों की सराहना करते हुए प्रो० मैक्स-मूलर ने अपने ग्रन्थ 'Origin of Religion' के १३१वें पृष्ठ पर लिखा है:

"The texts of Vedas have been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word or even uncertain aspect in the whole Rigveda."

श्री अरविन्द घोष अपने ग्रन्थ 'The Secret of the Vedas' के पृष्ठ १५ पर लिखते हैं:

"The text of the Veda which we possess has remained uncorrupted for over 200 years. It dates, so far as we know, from the great period of Indian intellectual activity, contemporaneous with the Greek efflorescence, but earlier in its beginnings, which founded the culture and civilization recor-

ded in the classical literature of the land. We cannot say to how much earlier at date our text may be carried. But there are certain considerations which justify us in supposing for it an almost enormous antiquity."

(ख) वेदों का काल

(मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल)

जब से पाश्चात्य लोगों ने वेदों के विषय में चर्चा शुरु की है, तब से अब तक वे इस निश्चय पर नहीं पहुँच सके कि वेदों की रचना का काल क्या है। इस विषय में मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल का मत है कि वेदों का काल १४०० ईसापूर्व कहा जा सकता है; जैकोबी का मत है कि वेदों का काल ४५०० ईसा-पूर्व कहा जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र के आधार पर बाल गंगाधर तिलक आदि विद्वानों का मत है कि यह काल ६००० ईसा-पूर्व तक जाता है; भूगर्भशास्त्र के आधार पर 'ऋग्वैदिक इंडिया' के लेखक श्री दास का यह मत है कि वेदों का काल २०-२५ हज़ार साल पीछे की तरफ जाता है; वैदिक लोगों का यह मत है कि वेद अनादि-काल से चले आ रहे हैं।

पहली-युक्ति—मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल—इन दोनों विद्वानों की पहली युक्ति यह है कि बौद्ध धर्म का भारत में ५०० या ६०० ईस्वी-पूर्व प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म से वेद पूर्व के हैं, यह सर्व सम्मत बात है, क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में वेदों का उल्लेख है। वेदों तथा बौद्ध ग्रन्थों के बीच का युग ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों का युग था। वेदों की भाषा तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों की भाषा एवं इन युगों के विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ है। अगर मान लिया जाय कि वेदों के निर्माण से ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के बीच तीन सौ साल का व्यवधान हुआ और उसके बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के निर्माण के बाद उनके तथा बौद्ध ग्रन्थों के बीच तीन सौ साल का व्यवधान हुआ, तो वेद बुद्ध से लगभग ६०० साल के पहले जा पड़ते हैं। क्योंकि बुद्ध ईस्वी-सन् से ६०० साल पहले हुए, इसलिए मैक्समूलर तथा उनके शिष्य मैक्डॉनल के अनुसार वेदों का काल ईसा से १२०० या १४०० साल पहले जा पड़ता है।

१२०० की जगह १४०० मानने के लिए ये लोग क्यों विवश हो गये है, इसका कारण यह है कि एक विद्वान् ह्यूगो विंकलर (Hugo Winckler) को १९०७ में एशिया माइनर के बोघज़कोई (Boghazkoi) स्थान पर कुछ मिट्टी की बनी पट्टिकाएँ प्राप्त हुईं जो १४०० ईसा-पूर्व के काल की हैं। इन पट्टिकाओं में चेट्टाइट तथा मितनी राजाओं की पारस्परिक सन्धि का उल्लेख

है जिसमें वे मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ देवताओं का नाम लेकर सन्धि को अटूट बनाये रखने के लिये इन देवताओं का आशीर्वाद माँगते हैं। इससे स्पष्ट है कि १४०० ई० पू० में तो ऋग्वेद के ये देवता एशिया माइनर में पूजे जाते थे, इसलिए ऋग्वेद का काल १४०० ई० पू० से पीछे का नहीं हो सकता।

इस युक्ति में दो बातें हेत्वाभास हैं। इससे यह तो ठीक सिद्ध होता है कि ऋग्वेद की मान्यता १४०० ईसा-पूर्व थी, परन्तु यह तो सिद्ध नहीं होता कि ऋग्वेद की सत्ता इससे पूर्व नहीं थी। दूसरा हेत्वाभास यह है कि इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि इस समय ऋग्वेद का निर्माण हुआ? अगर आज के किसी ग्रन्थ में बाइबल का नाम पाया जाय, तो यह सिद्ध होगा कि आज बाइबल का ज्ञान मौजूद है, परन्तु आज इसका निर्माण हुआ, यह नहीं कहा जा सकता।

दूसरी युक्ति—वेद के निर्माण की तिथि १२०० से १४०० वर्ष ईस्वी-पूर्व है—इसके सम्बन्ध में मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल की दूसरी युक्ति ईरानी तथा भारतीय आर्यों का आपस में एक-साथ रहने के बाद एक-दूसरे का शत्रु बन जाना है। इन लोगों का कहना है कि पारसियों की धर्म पुस्तक ज़िन्दावेस्ता ईस्वी सन् से ७०० या ८०० वर्ष पूर्व की है। कोई समय ऐसा था, जब वेद तथा फारसी धर्म एक ही था, इनकी भाषा भी एक थी। अगर मान लिया जाय कि जब ये एक थे तब से इनकी आपसी शत्रुता उत्पन्न होने तथा बढ़ने में ५०० या ६०० साल लगे, तब भी हम लगभग १४०० ईसा-पूर्व तक पहुँच जाते हैं जब पारसी तथा हिन्दी आर्य एक थे। उसी समय को ऋग्वेद का काल माना जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय पारसी तथा वैदिक आर्य एक थे। पारसियों की धर्म-पुस्तक वेन्दीदाद के प्रथम अध्याय में पुराने आर्यों की १६ बस्तियों को गिनाया गया है जिनमें इस ग्रन्थ में पहली बस्ती का नाम आर्यन-बीज लिखा है। सम्पूर्ण अवेस्ता-साहित्य में सृष्टि के आदि उत्पत्ति-स्थान को आर्य-देश कहा गया है। भारत को 'आर्यावर्त' कहा ही जाता है। पारसियों की एक पुस्तक का नाम होम-यष्ट है। 'होम' संस्कृत के 'सोम' का अपभ्रंश है। इस होम-यष्ट में एक विचित्र घटना का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है, करेशानी राजा ने अपने राज्य में घोषित कर दिया कि जो पुरोहित, जिसे वहाँ 'अथर्वा' कहा गया है, '**अपाम् अविष्टिश्**' का पाठ करेगा, उसे मरवा दिया जायेगा। 'अपाम् अविष्टिश्' का अभिप्राय **शन्नोदेवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये**' से है, 'अभिष्टये आपः' का बिगड़कर 'अपाम् अविष्टिश्' हो

गया है। महाभाष्य में अथर्ववेद को सूचित करने के लिये 'शन्नो देवीरभिष्टये' मन्त्र का उल्लेख है क्योंकि कभी अथर्ववेद का प्रारम्भ इसी मन्त्र से होता होगा। कहने का अभिप्रायः यह है कि आर्यों की इन दोनों शाखाओं में इतनी शत्रुता हो गई थी कि ईरानी आर्य वेदों के शत्रु हो गये थे। इतना ही नहीं, पारसी धर्म में वैदिक आर्यों के इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवता पारसियों के धर्म में राक्षस गिने जाते हैं। असुर'-शब्द, जो वैदिक आर्यों में राक्षस का प्रतिनिधि है, पारसी धर्म में 'अहुर' बन गया—जो परमात्मा का सूचक है।

मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल का कथन है कि अगर जिन्दावेस्ता को ७०० ईस्वीपूर्व मान लिया जाय जब आर्यों की इन दोनों शाखाओं में शत्रुता उत्पन्न हो गई, तो वह काल, जब ये दोनों एक-साथ थे, ७०० से ५-६ सौ साल पहले का माना जा सकता है। वह काल ईस्वी-सन् से १३-१४ सौ साल पहले जा पड़ता है, इसलिए ऋग्वेद का काल १३ या १४०० ईस्वी-पूर्व मान लेना युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

इस युक्ति में भी वही दो हेत्वाभास हैं, जिनका हमने पहले वर्णन किया। इस युक्ति से यह तो सिद्ध हो जाता है कि ईसा से १४००वर्ष पूर्व ऋग्वेद की सत्ता थी, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईस्वी-सन् १४०० वर्ष से भी अनेक वर्ष पूर्व ऋग्वेद की सत्ता नहीं थी। दूसरी बात यह कि इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि इस समय वेदों का निर्माण हुआ?

मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल के मुकाबिले में जैकोबी का मत है कि ऋग्वेद का काल ४५०० ईस्वी-पूर्व से पीछे का नहीं है। उनका कहना है कि ईरानी तथा भारतीय आर्यों की एक-दूसरे से जुदाई ईस्वी-सन् से ४५०० वर्ष पहले हुई। उन्होंने ऋतुओं के आधार पर भी सिद्ध किया है कि ऋग्वेद में ऐसे स्थल हैं जिनका निर्माण ४५०० ईस्वी-पूर्व ही हो सकता था। उदाहरणार्थ, उन्होंने ऋग्वेद के मंडूकसूक्त की एक ऋचा का उल्लेख किया है जिसमें लिखा है:

देवहितिं, जुगुपुः, द्वादशस्य ऋतुम्। नरः न प्र मिनन्ति एते संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम्। तप्ताः घर्माः अश्नुवते विसर्गम्॥ (ऋ०७।१०३।९)

इस ऋचा में 'संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम्'—संवत्सर की गणना में वर्षा ऋतु के आने पर—'जुगुपुः द्वादशस्य ऋतुम्'—संवत्सर के जो बारह महीने होते हैं, उनके क्रम में वर्षा ऋतु के प्रथम स्थान की लोग रक्षा करते हैं। जैकोबी के अनुसार, इसका अभिप्रायः यह हुआ कि ऋग्वेद के समय ऋतुओं की ऐसी स्थिति थी जिसमें वर्षा ऋतु का वर्ष-गणना में प्रथम स्थान था।

कई विद्वानों का कहना है कि वर्षा ऋतु के वर्ष-गणना में प्रथम स्थान होने के कारण ही सन् को वर्ष कहा जाता है। ऋतुओं के अनुसार यह प्रथम स्थान ४५००ई०पू० में ही था—यह जैकोबी का कथन है। जैकोबी के इस कथन का खण्डन करते हुए मैक्डॉनल लिखते हैं :

"This interpretation is used as evidence to show that the beginning of the year was held in the period of the Rigveda, to commence with the rainy season at the time of the summer solstice to furnish an argument for the very early date of the Rigveda."

सोलस्टिस वह समय है जब सूर्य भूमध्य-रेखा से दूरतम स्थिति में होता है। इसके दो समय होते हैं—ग्रीष्म तथा शरद्। इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के काल में यह काल वर्षा-ऋतु के समय होता था। इस परिवर्तन में ज्योतिषशास्त्र के अनुसार ५-६ हजार साल लगे होंगे, ऐसा जैकोबी का मत है।

मैक्डॉनल ने जैकोबी के कथन पर लिखा है कि इस बात में संदेह है कि भारत के ऋषि-मुनि ज्योतिषशास्त्र के इतने ज्ञाता थे कि नक्षत्रों की स्थिति की इतनी गहराई तक पहुँच सकते, जितनी गहराई तक जाकर ही जैकोबी के मत की पुष्टि हो सकती है। इस विषय में मैक्डॉनल का कथन 'सारहीन है, क्योंकि आर्यभट (५वीं शताब्दी) और भास्कराचार्य (७वीं शताब्दी) आदि के जो ग्रन्थ मिले हैं, उनसे सिद्ध होता है कि ज्योतिषशास्त्र के विषय में यहाँ के विद्वानों का ज्ञान अगाध था। बृहदारण्यक (७,१) में नारद के सनत्कुमार को अपने चालू ज्ञान का जो परिचय दिया था, उसमें कहा था कि चारों वेदों के अध्ययन के साथ उसने नक्षत्र-विद्या भी पढ़ी है। यहाँ उन विद्याओं का परिगणन किया गया है जो उस काल में सर्व-साधारण को पढ़ाई जाती थीं।

तिलक

लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का काल ईस्वी-सन् से ७००० वर्ष माना है। उनकी अन्य युक्तियों के अतिरिक्त एक युक्ति का आधार गीता (१० अध्याय, २५) का निम्न श्लोक है :

मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः।

अर्थात्, मैं महीनों में मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ। उनका कहना है कि वसन्त को ऋतुराज कहा जाता है, इसलिए 'ऋतुओं में वसन्त हूँ'—यह समझ में आता है, परन्तु 'मासों में मैं मार्गशीर्ष हूँ'—यह

क्यों कहा ? गीता में ही नहीं, महाभारत (अनु० १०६, १०६), बाल्मीकि-रामायण (१३-१६) तथा भागवत (११,१६-२७) में भी ऐसा ही उल्लेख है। श्री तिलक अपने ग्रन्थ 'ओरायन' (Orion) में लिखते हैं कि गीता में ही नहीं, ऋग्वेद में भी ऐसे स्थल पाए जाते हैं जिनसे लक्षित होता है कि ऋग्वेद के काल में मृगशिरा नक्षत्र का विशेष महत्त्व था। उस महत्त्व का कारण यह था कि वसन्त-संपात (Vernal equinox) तथा शिशिर-संपात (Winter equinox) उस समय मृगशिरा नक्षत्र में होते थे।

वसन्त-संपात तथा शिशिर-संपात वह समय है जब दिन तथा रात का समय बराबर होता है—जितने घण्टे का दिन, उतने घण्टे की रात। वर्ष में दो दिन ऐसे आते हैं जब दिन तथा रात बराबर होते हैं। गर्मियों में यह दिन २१ मार्च तथा सर्दियों में २३ सितम्बर को आता है। २१ मार्च से दिन बढ़ने लगते हैं, रातें घटने लगती हैं—इसे वसन्त-संपात (Vernal equinox) कहते हैं; २३ सितम्बर से दिन घटने लगते हैं, रातें बढ़ने लगती हैं—इसे शिशिर-सम्पात (Winter equinox) कहते हैं।

इन सम्पातों का सम्बन्ध नक्षत्रों से है। ज्योतिषशास्त्र में २७ नक्षत्र माने जाते हैं। वे २७ हैं—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणा, घनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्र, उत्तरभाद्र, तथा रेवती।

ईस्वी-सन् के काल में वसन्त-सम्पात तथा शिशिर-सम्पात उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में होते आ रहे हैं, वेद के काल में ये सम्पात मृगशिरा नक्षत्र (Orion) में होते थे—यह लोकमान्य तिलक का कहना है। उनका कथन है कि मृगशिरा नक्षत्र को महत्त्व देने का यही कारण है।

उत्तर भाद्रपद नक्षत्र से उल्टी तरफ चलें, तो इससे मृगशिरा ६ नक्षत्र पहले पड़ता है। सम्पात को नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक जाने में ६६० या १००० वर्ष लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि जब पृथिवी या सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में थे, वह समय ईस्वी-सन् से ६-७ हजार वर्ष पूर्व का था। ईस्वी सन् में वसन्त तथा शिशिर सम्पात उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में रहा है। वेद के समय मृगशिरा नक्षत्र में यह सम्पात था जब दिन-रात एक-से होते थे। इसलिए ऋग्वेद का समय ६००० वर्ष ईस्वी-पूर्व का है। वेद के समय दिन-रात मृगशिरा नक्षत्र में होते थे, इसका प्रमाण ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है।

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यम् अवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावः अर्जुन्योः परि उह्यते ॥ ऋक् १०, ८५, १३ ॥

अर्थात्, सूर्य-पुत्री सूर्या का विवाह हुआ जिसे सविता अर्थात् सूर्य ने किया।

अघा नक्षत्र में 'गावः' अर्थात् सूर्य की किरणें 'हन्यन्ते' अर्थात् मारी जाती हैं, और 'अर्जुन्योः' अर्थात् रात्रियाँ 'परि उह्यन्ते'—कठिनाई से बितायी जाती हैं।

इस स्थल में यह निर्देश मिलता है कि 'अघा' अर्थात् 'मघा नक्षत्र' में सूर्य की किरणें धीमी पड़ जाती हैं, रात्रियाँ लम्बी हो जाती हैं, और कठिनाई से निकलती हैं।

लोकमान्य तिलक का कथन था कि क्योंकि गीता, महाभारत और रामायण में मार्गशीर्ष को मुख्य स्थान दिया गया है, इसलिये ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में 'अघा' से अभिप्रायः 'मघा' या मार्गशीर्ष से है। सायण, विलसन आदि ने अघा का अर्थ मघा नक्षत्र किया है। २७ नत्रत्रों में मघा भी एक नक्षत्र है। अगर अघा से मार्गशीर्ष न लेकर मघा नक्षत्र लिया जाय, तो ऋग्वेद का काल ११-१२ हजार ईस्वी-पूर्व जा पड़ता है क्योंकि ईस्वी-सन् के उत्तराभाद्रपद नक्षत्र से मघा नक्षत्र का ११वाँ या १२वाँ स्थान है, और क्योंकि एक-एक नक्षत्र को दूसरे नक्षत्र में जाने में ९६० या १००० वर्ष लग जाते हैं इसलिये ११वें या १२वें नक्षत्र से अब तक ११ या १२ हज़ार वर्ष बीत गए होने चाहिएँ।

डॉ० अविनाशचन्द्र दास

डा० अविनाशचन्द्र दास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऋग्वैदिक इण्डिया' (Rigvedic India) में ऋग्वेद का काल ईस्वी-सन् से २५,००० से ५०,००० पूर्व का सिद्ध करते हैं। उनके निष्कर्ष का आधार ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है। इस मन्त्र में भूगर्भशास्त्र (Geology) के अनुसार ईस्वी-सन् से ५०,००० वर्ष पूर्व की भौगोलिक स्थिति का उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार है :

वातस्य अश्वः वायोः सखाथोः देवेषितः मुनिः।
उभौ समुद्रौ आ क्षेति यः च पूर्व उत अपरः॥ (ऋ० १०।१३६।५)

अर्थात्, देवताओं से प्रेरणा पाकर वायु का मित्र मुनि, वायु को घोड़ा बनाकर, पूर्व तथा पश्चिम दोनों समुद्रों को पहुँच गया। पूर्व तथा पश्चिम के कौन-से दोनों समुद्र ?

इस बात को स्पष्ट करते हुए डा० अविनाशचन्द्र दास कहते हैं कि जब वैदिक आर्य सप्त-सिन्धु देश—अर्थात् पंजाब—में आकर बसे, तब पंजाब के पूर्व तथा पश्चिम दोनों तरफ़ समुद्र था। पश्चिम में तो अब भी है, भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार, पूर्व में जहाँ अब हिमालय है, वहाँ भी ५०,००० साल पहले समुद्र था। डॉ० दास का कहना है कि इसी को ऋग्वेद में अपर समुद्र कहा है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का काल ५०,००० साल ईस्वी-पूर्व जा पहुँचता है।

भारतीय दृष्टिकोण—वेद अनादि हैं

भारतीय संस्कृति के जितने ग्रन्थ हैं, उनमें वेदों को 'अनादि' कहा गया है। अनादि का क्या अर्थ है—जिसका कोई काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संसार के जितने धर्म-ग्रन्थ हैं, सबका काल निश्चित है। पारसियों के यरथुश्त्र का काल ई० पू० ७०० है, यहूदियों के ओल्ड टेस्टामेंट के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ ही ८७वें० वर्ष का है, ईसाइयों की न्यू टेस्टामेंट ईसा के जीवन से शुरु होती है, ईसा का काल १९८० है, मोहम्मद का काल ईसा से ६०० साल पीछे का है। सिर्फ़ वेद ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका कोई काल निश्चित नहीं हो सका। मैक्समूलर तथा उनके शिष्य मैक्डॉनल इनका काल १४०० ईसा-पूर्व तथा जैकोबी ४५०० ईसा-पूर्व बतलाते हैं तो तिलक ६०००-७००० वर्ष ईसा-पूर्व तथा डॉ० अविनाशचन्द्र दास ५०,००० साल ईसा-पूर्व प्रमाणपूर्वक सिद्ध करते हैं। काल की इतनी भिन्नता संसार के किसी ग्रन्थ में नहीं पायी जाती। इतनी भिन्नता के कारण अगर इन्हें अनादि काल से चले आ रहे ग्रन्थ कह दिया जाय, तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?

तत्त्व की बात यह है कि संसार की धर्म-पुस्तकों में एकमात्र वेद ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका काल न पाश्चात्य विद्वान् तय कर पाये, न भारतीय विद्वान् तय कर पाये। यही कारण है कि वेद के आधार पर ही वैदिक ऋषि वेदों को नित्य तथा अनादि मानते रहे हैं। अथर्ववेद (१०, ७, २०) में लिखा है :

> **यस्माद् ऋचः अपातक्षन् यजुः यस्मात् अपाकषन्।**
> **सामानि यस्य लोमानि, अथर्वाङ्गिरसौ मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वित एव सः॥**

कोई ग्रन्थ अनादि हो सकता हैं या नहीं, यह विवाद का विषय है। हम इस विवाद में न पड़ कर इतना ही कहना चाहते हैं कि संसार के सब धर्म-ग्रन्थों की तुलना में वेद ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके काल का कुछ पता नहीं। वे इतने प्राचीन हैं कि प्राचीन-से-प्राचीन भी जो-कुछ है, उससे भी वे अधिक प्राचीन हैं।

मैक्समूलर यद्यपि ऋग्वेद को १४०० ई० पू० का मानते हैं, तो भी वेदों की प्राचीनता के विषय में उन्हें कहना पड़ा कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद ही है। अपने सायण-भाष्य के चतुर्थ खण्ड की भूमिका में वे लिखते हैं :

"After the latest researches into the history and chronology of the book of Old Testament, we may now safely call the Rigveda the oldest book, not only of Aryan cumunity, but of the whole world"—अर्थात्, इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद आर्य-जाति की ही नहीं, संसार की पुरातनतम पुस्तक है।

इसके अतिरिक्त अपनी पुस्तक Physical Religion—Gifford Lectures के १८वें पृष्ठ पर वे लिखते हैं "We could not hope to be able to lay down any terminus quo. Whether the Vedic hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B.C. no power on earth could ever fix"—अर्थात्, वेद ईस्वी सन् से १ हजार २ हजार या ३ हजार वर्ष पहले के हैं—इसका निर्णय किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

वेदों का शब्द-ज्ञान भारत में न जाने कब से चला आ रहा है, मन्त्रों में कुछ हेर-फेर नहीं हुआ, परन्तु उनके अर्थ का भी हमें ज्ञान होना चाहिए—यह बात कुछ अंग्रेजों के भारत में आने के बाद, जब उन्होंने वेदों का अंग्रेजी में अर्थ करना शुरू किया, तब समझ पड़ने लगी। वेदों के विषय में हमारी विशेष दिलचस्पी तब से होने लगी, जब से ऋषि दयानन्द ने वेदों का हिन्दी में भाष्य किया। अभी तक हम 'वेद-वेद' चिल्लाते थे, परन्तु या तो हम हर संस्कृत वाक्य को वेद कहते थे, या सिर्फ वेद-मन्त्रों को, बिना अर्थ जाने, रटा करते थे। श्री ओम्प्रकाश शास्त्रार्थ-महारथी का कथन है कि कुछ साल हुए, बम्बई के प्रतापभाई ने चारों वेदों के ४०-५० विद्वान् देश के भिन्न-भिन्न स्थानों से अपने यहाँ आमन्त्रित किये थे। वे भी वहाँ निमन्त्रित थे। एक दिन एक दाक्षिणात्य पंडित की उनसे भेंट हुई तो उन्होंने ओम्प्रकाश जी से पूछा आप कौन वेदी हैं? ओम्प्रकाश जी पूछने लगे—क्या मतलब? तो वे बोले हम ऋग्वेदी हैं—आप कौन वेदी हैं? ओम्प्रकाश जी ने कहा—हम तो चतुर्वेदी हैं—उनका कहने का अभिप्राय यह था कि हम चारों वेदों को मानते हैं। दाक्षिणात्य पंडित आश्चर्य में पड़ गये। यह छोटी आयु का पंडित चारों वेदों को कैसे कण्ठस्थ कर सका होगा! बात जाती-आती रही। एक दिन ओम्प्रकाश जी उन्हीं पंडित के कक्ष में पहुँचे। बोले—पण्डितजी, हमें ऋग्वेद के एक मन्त्र पर आपसे कुछ पूछना है। ऋग्वेदी जी कहने लगे—हमने तो ऋग्वेद रटा हुआ है, अर्थ-वर्थ हम नहीं जानते। ऋषि दयानन्द के आगमन से पहले

वेदों का ज्ञान सिर्फ 'रटन्त' तक सीमित था—वेद में कहा क्या गया है, इसे कोई नहीं जानता था।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जिन्होंने वेद कण्ठस्थ कर रखे थे, उनके प्रति हमारा ऋण नहीं है। वे हमारी श्रद्धा के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने वेदों को नष्ट होने से बचाया। मुसलमान तो जहाँ भी जाते, जिहाद का नारा लेकर जाते थे और वहाँ के ग्रन्थों को भी जला देते थे। कहते हैं, जब हज़रत उमर की फ़ौजों ने मिस्र के अलैग्जैण्ड्रिया नगर को विजित किया, तब वहाँ एक महान् पुस्तकालय था जिसमें सैकड़ों सालों से विश्व के ग्रन्थ संगृहीत हो रहे थे। सेना के कमाण्डर ने हज़रत उमर से पूछा—इन किताबों का क्या किया जाय? उसे उत्तर मिला—अगर इनमें वही कुछ लिखा है जो कुरान में लिखा है, तब तो इनकी कोई जरूरत नहीं, अगर कुरान के खिलाफ लिखा है, तब इन्हें नष्ट कर देना लाजमी है। दोनों हालात में इन्हें जला देना ही उचित है। परिणामस्वरूप अलैग्जैण्ड्रिया का महान् पुस्तकालय जला दिया गया और महीनों तक वहाँ के हमामों में उन ग्रन्थों से पानी गर्म किया जाता रहा। अगर भारत के पण्डित वेदों को कण्ठस्थ न कर लेते, तो मुस्लिम आक्रान्ताओं के बाद वेद बच रहते या नहीं—यह सन्देहास्पद है। ऐसी हालत में, भले ही पण्डितों को वेदों के अर्थ का ज्ञान नहीं था, उन्होंने वेदों को कण्ठस्थ करके वेदों की जो रक्षा की, उसके लिए सम्पूर्ण देश उनका आभारी है।

जैसा हमने कहा, वेद निस्सन्देह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं। मैक्समूलर ने ऋग्वेद को मानव-जाति का आदि ग्रन्थ कहा है, परन्तु हमारा दुर्भाग्य यह रहा है कि इनके अर्थों से हमारा परिचय पिछले २०० साल से ही हुआ है।

(ग) वेदों के भाष्यकार तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं

वैसे तो वेदों के अर्थ के विषय में प्राचीनकाल में बहुत-कुछ ज्ञान था, तभी निघण्टु निरुक्त आदि की रचना की गई थी, परन्तु उनमें क्या लिखा है, इसकी तरफ हमारा ध्यान नहीं रहा। जो लोग वेद-मन्त्रों की रक्षा करते रहे, उनके प्रति हम लोग अत्यन्त ऋणी हैं। इस समय मध्य-काल के बाद वेदों का अर्थ करने वालों को हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं। वे हैं:

(क) सायण, महीधर, उव्वट आदि।

(ख) पाश्चात्य भाष्यकार—रूडोल्फ़ रॉथ, मैक्समूलर, मैक्डॉनल आदि।

(ग) ऋषि दयानन्द तथा उनके अनुयायी भाष्यकार।

सायण का वेद-भाष्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

वेदों की रक्षा उत्तर-भारत में न होकर दक्षिण-भारत में हुई। वहीं वेदों के एक-एक अक्षर को याद करके उसे मिटने से बचाया गया। दक्षिण-भारत में विजयनगरम् नाम के राज्य की हरिहर बुक्क नामक राजा ने स्थापना की, जिससे मुसलमान आक्रान्ता वहाँ जड़ न जमा सकें। यह राज्य अब तो नहीं रहा, परन्तु १४वीं शताब्दी में विजयनगरम् राज्य भारत का बड़ा प्रभावशाली राज्य था। सायणाचार्य इसी हरिहर बुक्क के अमात्य थे। श्री माधवाचार्य, जो पीछे जाकर शंकराचार्य की गद्दी पर आसीन हुए, सायणाचार्य के भाई थे। सायण ने वही काम किया जो चन्द्रगुप्त के समय आचार्य चाणक्य ने किया था। सायणाचार्य ने चारों वेदों का संस्कृत में भाष्य किया।

वेदों के विषय में तथा वैदिक विचारधारा के विषय में चिर-काल से यह धारणा चली आ रही थी कि उनका मुख्य ध्येय 'यज्ञ' है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म में मुख्य स्थान यज्ञों ने ही लिया हुआ था। जहाँ यज्ञों के विषय में विशेष भावना थी वहाँ यज्ञों के विरोध में भी भावना थी। कठोपनिषद् में वाजस्रवस् नामक एक व्यक्ति का वर्णन आता है। उसने मुक्ति की इच्छा से यज्ञ किया था। यमाचार्य ने नचिकेता को बतलाया कि स्वर्ग की प्राप्ति का मार्ग अध्यात्म है। मुण्डकोपनिषद् (१-२-७) में लिखा है : **'प्लवाः ह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः'**—यज्ञ के नाम से स्वर्ग-प्राप्ति के जो ये उपाय किये जाते हैं, वे जीवन-समुद्र को पार करने के बहुत कमज़ोर बेड़े हैं।

यज्ञों के प्रति निष्ठा तो यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि छह दर्शनों में एक दर्शन मीमांसा-दर्शन है जिसका मुख्य लक्ष्य ही वेद की श्रुतियों का यज्ञ में विनियोग बतलाना है।

गीता के समय भी यज्ञों का जीवन में विशेष महत्त्व था। गीता (३, ९-१०) में लिखा है :

> **यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**
> **तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥**
> **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**
> **अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥**

परन्तु श्रीकृष्ण ने गीता में यज्ञ का अर्थ बदल कर कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड के झगड़े में एक नया भाव डाल दिया। यज्ञ का अर्थ है—निष्काम-कर्म। श्रीकृष्ण ने यज्ञ का अर्थ कर्मकाण्डियों के यज्ञों के रूप में नहीं रहने दिया।

इससे स्पष्ट है कि वैदिक विचारधारा में दो पक्ष देर से चले आ रहे थे। एक पक्ष कर्मकाण्डपरक था। यज्ञों में पशु-हिंसा होती थी, बलि चढ़ाई जाती थी। सायण का मुख्य उद्देश्य प्रचलित हिन्दू धर्म को प्रतिष्ठित करना था, ताकि हरिहर बुक्क द्वारा संस्थापित विजयनगरम् राज्य का प्रभाव बढ़ता जाय। इसलिए सायण का भाष्य यज्ञपरक भाष्य है। सायण, उव्वट तथा महीधर वेदों को अपौरुषेय मानते रहे, परन्तु उन्होंने इस तरफ ध्यान नहीं दिया कि इन अपौरुषेय ग्रन्थों में इतिहास तथा पशु-हिंसा आदि स्वीकार करने पर उनकी अपौरुषेयता बनी रह सकती है या नहीं। जहाँ तक समझ पड़ता है, सायण का मुख्य उद्देश्य हिन्दू धर्म की स्थापना तथा विजयनगरम् राज्य के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए वेदों के नारे को उजागर कर देना मात्र था।

पाश्चात्त्य भाष्यकार

(क) **सर विलियम जोन्स (अंग्रेज) तथा श्री कोअर्दु (फ्रेंच) का संस्कृत की तरफ़ ध्यान जाना**—सर विलियम जोन्स १७८३ में कलकत्ता में हाई-कोर्ट के जज नियुक्त होकर आये। १७८४ में उन्होंने कलकत्ता में 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' की नींव रखी और दस साल तक उसके प्रधान रहे। १७८९ में उन्होंने कालिदास के 'शाकुन्तलम्' नाटक का अनुवाद किया। इस अनुवाद की युरोप में धूम मच गई। सर विलियम जोन्स ने 'गीत-गोविन्द' तथा 'मनुस्मृति' का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया और 'ऋतुसंहार' काव्य का सम्पादन करके उसे छपवाया।

१७६७ में फ्रेंच पादरी कोअर्दु (Coerdou) ने भारत में संस्कृत का अध्ययन किया था। उसने देखा कि संस्कृत की ग्रीक तथा लैटिन से अपूर्व समानता है। तब तक ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत की समानता की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया था। उसने अनुभव किया कि यह तो बिल्कुल एक नई खोज है। उसे ऐसी भाषा हाथ लगी है जिसकी युरोपियन भाषाओं से समानता है। उसने अपनी इस खोज को प्रकाशित किया। उसने इस बात की तरफ भी विद्वानों का ध्यान खींचा कि संस्कृत की ग्रीक तथा लैटिन के शब्दों के साथ ही नहीं, इनके व्याकरण के साथ भी समानता है। यह बात १७८६ ई० की है। इसके दो साल पहले कलकत्ता के प्रधान न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसा-इटी ऑफ़ बंगाल' की स्थापना की थी। उन्होंने संस्कृत भाषा के कुछ ग्रन्थों का इस सोसाइटी की तरफ़ से प्रकाशन भी करवाया था। जब सर विलियम जोन्स का ध्यान कोअर्दु की खोज की तरफ़ गया, तो उन्होंने ग्रीक-लैटिन-संस्कृत की समानता का विशेष अध्ययन शुरू किया और इस खोज को

विद्वानों के सम्मुख बलपूर्वक रखा। खोज तो कोअर्दु ने की थी, परन्तु इसका विशेष प्रचार-प्रसार सर विलियम जोन्स ने किया। उन्होंने 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' के सम्मुख एक निबन्ध पढ़ा, जिसमें उन्होंने संस्कृत के 'पितृ', लैटिन के 'पेटर', ग्रीक के 'पतेर', ज़िन्द के 'पैतर' और अंग्रेजी के 'फ़ादर' आदि शब्दों की समानता पर विचार करने के लिए विद्वानों का ध्यान खींचा। 'मातृ', 'भ्रातृ', 'स्वसा', 'दुहिता' आदि शब्द भी इसी तरह के थे। अंग्रेजी में संस्कृत के शब्दों की भरमार को देखकर आश्चर्य होता है। मातृ से मदर, पितृ से फ़ादर भ्रातृ से ब्रदर, स्वसृ से सिस्टर, दुहितृ से डॉटर, सूनु से सन—रिश्ते के इन शब्दों के अलावा शरीर के अंग-प्रत्यंगों के वाचक शब्द भी संस्कृत के अपभ्रंश हैं। उदाहरणार्थ, भ्रू को ब्रो, अक्षि को आई, नासिका को नोज़, मुख को माउथ, दन्त को डेन्चर में पड़ा दन्त—ये सब संस्कृत के विकृत रूप हैं। लैटिन और ग्रीक ही नहीं, फ़ारसी शब्दों का मूल भी संस्कृत में देखा जाने लगा। उदाहरणार्थ, आपस् का आब, और हस्त का दस्त बन गया।

संस्कृत के शब्दों की अंग्रेजी आदि के शब्दों से इतनी समानता है कि शब्दों के स्पेलिंग तक एक-से हैं। उदाहरणार्थ—'नक्त' का night बना। नाइट में gh संस्कृत शब्द के 'क्त' का अवशेष हैं। अमराकन नाइट को Nite लिखने लगे हैं जो भाषा के इतिहास का हनन है। इसी प्रकार 'केन्द्र' से अंग्रेजी का Centre बना। अमरीकन इसे Center लिखने लगे हैं, जो इतिहास की दृष्टि से इस शब्द के पूर्वापर अक्षरों का हनन हैं।

हीगल ने इस समानता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कह डाला कि यह खोज किसी आविष्कार से कम महत्त्व की नहीं है। संस्कृत का ज्ञान पाश्चात्त्य विद्वानों के लिए नई खोज था और इस खोज का परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्त्य जगत् में एक नवीन विज्ञान ने जन्म ले लिया, जिसका नाम 'भाषा-विज्ञान' (Philology) रखा गया। अभी तक, अर्थात् १८वीं शताब्दी तक, पाश्चात्त्य जगत् में वेदों की तरफ़ ध्यान कम गया था, संस्कृत भाषा तथा संस्कृत-साहित्य की तरफ़ ही ध्यान गया था। १७९४ में सर जोन्स की मृत्यु हो गई।

(ख) **कोलब्रुक का वेदों की तरफ़ ध्यान गया**—कोलब्रुक भारतीय भाषा-विज्ञान के जन्मदाता कहे जाते हैं। वे १७८२ में कलकत्ता आये, परन्तु ११ वर्षों तक उन्होंने संस्कृत पढ़ने की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। १७९४

ई० यानी सर जोन्स की मृत्यु के समय तक उन्होंने बहुत थोड़ी संस्कृत पढ़ी थी। कुछ समय बाद इन्होंने सर जोन्स के समय के पंडितों की सहायता से हिन्दू कानून के कुछ अंश का अंग्रेजी में अनुवाद किया। १८९८ से कोलब्रुक ने अदम्य उत्साह से संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ किया। उन्होंने दर्शनशास्त्र, धर्म, व्याकरण तथा ज्योतिष पर कुछ लेख भी लिखे तथा पाणिनि के व्याकरण, हितोपदेश, किरातार्जुनीय आदि के अनुवाद किये। अभी तक इन लोगों का ध्यान वेदों की ओर नहीं गया था। १८०५ ईस्वी में कोलब्रुक ने वेदों के ऊपर बहुत-कुछ लिखा और उन्होंने कहना शुरू किया कि वेदों में कैसे महत्त्वपूर्ण विषय भरे पड़े हैं। ये भी अंग्रेज थे। इन्होंने हस्तलिखित पुस्तकों का एक बड़ा संग्रह किया जिसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के पुस्तकालय को दे दिया। ये पुस्तकें इस समय लन्दन के 'इंडिया हाउस' में रखी हुई हैं। वेदों का पाश्चात्य विद्वानों ने अब तक अनुवाद नहीं शुरू किया था।

१८३० तक युरोपियन विद्वानों ने केवल साहित्यिक संस्कृत (Classical Sanskrit) की ओर ही ध्यान दिया था। अभी तक भगवद्गीता, शकुन्तला, हितोपदेश, मनुस्मृति, किरातार्जुनीय आदि ग्रन्थों का ही अध्ययन होता था। कोलब्रुक के वेद-विषयक लेखों को छोड़कर वेद-सम्बन्धी कोई भी पुस्तक अभी तक प्राप्त नहीं थी।

(ग) **फ्रेंच विद्वान् दि पेराँ का उपनिषद्-भाष्य**—१८०१-२ में फ्रेंच विद्वान् दि पेराँ ने उपनिषदों का लैटिन में अनुवाद किया। यह अनुवाद फ़ारसी भाषा से किया गया था, क्योंकि बादशाह शाहजहाँ के पुत्र दारा शिकोह ने पंडितों द्वारा उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद कराया था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह ग्रन्थ पेरिस पहुंचा, वहाँ दि पेराँ ने इसका लैटिन में अनुवाद किया। दि पेराँ उपनिषदों से इतना प्रभावित हुआ कि पर्याप्त धन-सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी भारतीय संन्यासियों की तरह सादगी से रहने लगा। इस लैटिन अनुवाद को जब शोपनहार ने पढ़ा, तो वह उपनिषदों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसकी टेबल पर हर समय उपनिषद् का ग्रन्थ खुला पड़ा रहता था। शोपनहार का कहना था कि सारे संसार में उपनिषदों से बढ़ कर कोई शिक्षा नहीं। वह प्रतिदिन इसका स्वाध्याय करता था। वह कहता था कि उपनिषद् मेरे जीवन का एकमात्र आनन्द है, और मृत्यु के समय मुझे केवल यही शान्ति दे सकेगा। शोपनहार स्वयं विख्यात दार्शनिक था।

(घ) फ्रेंच विद्वान् ई० बुरनाफ़, रूडोल्फ़ रॉथ, मैक्समूलर तथा मैक्डॉनल द्वारा वेदों का स्वाध्याय—वेदों की तरफ़ युरोपीय विद्वानों में पहले-पहल फ्रेंच विद्वान् ई० बुरनाफ़ का ध्यान गया। उसने अपने विद्वतापूर्ण व्याख्यानों से वेदों के बारे में युरोपीय विद्वानों को बहुत-कुछ बतलाया। उसने युरोप में वैदिक संस्कृत के अध्ययन की नींव डाली। उसने अपने बहुत-से शिष्यों को वेदों का अध्ययन करने की सलाह दी। पीछे उसके इन शिष्यों की बड़े-बड़े विद्वानों में गणना हुई। इन शिष्यों में एक रूडोल्फ़ रॉथ थे। उन्होंने १८४६ में 'वेद का साहित्य तथा उसका इतिहास' नामक पुस्तक लिखी। बुरनाफ़ का दूसरा शिष्य मैक्समूलर था। मैक्समूलर अपनी वेद-विषयक विद्वत्ता के लिए काफ़ी प्रसिद्ध हैं और भारत में भी लोग उनका नाम जानते हैं।

मैक्समूलर ने ऋग्वेद को सायणाचार्य की टीका के साथ छह भागों में प्रकाशित किया। इस काम के सम्पादन में उन्हें २६ वर्ष का समय लगा। मैक्समूलर के प्रधान शिष्यों में मैक्डॉनल प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'वैदिक व्याकरण' तथा 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास'—ये दो पुस्तकें अंग्रेजी में लिखीं। इस समय से—अर्थात्, १९वीं शताब्दी से—युरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से भारत में वेदों के विषय में जानकारी शुरु हुई। १८वीं शताब्दी में उन्हें 'साहित्यिक संस्कृत' (Classical Sanskrit) की जानकारी हुई। १९वीं शताब्दी में वैदिक साहित्य की इन्हें जानकारी हुई तो भारत में ही, भारत के विद्वानों से ही, परन्तु १९वीं शताब्दी के बाद युरोपियन विद्वानों के प्रयत्न से सारे संसार में वेदों की चर्चा होने लगी। जैसे हम वेदों को कण्ठस्थ करने वाले पंडितों के ऋणी हैं—उन्होंने वेदों को नष्ट होने से बचाया—वैसे ही हम इन पाश्चात्य विद्वानों के भी ऋणी हैं, उन्होंने वेदों को भारत में ही सीमित न रहने देकर विश्व की सम्पत्ति बना दिया। यह काम १९वीं शताब्दी में हुआ, उससे पहले वेदों का विश्व के अन्य भू-भागों मे किसी को पता ही न था।

पाश्चात्य भाष्यकारों का दृष्टिकोण तथा श्री अरविन्द घोष

जैसे सायण-आदि का दृष्टिकोण यज्ञपरक था, उनके अनुसार वेदों के हर मन्त्र का लक्ष्य यज्ञ की किसी प्रक्रिया को सम्मुख रखकर मन्त्र का नियोजन करना था, वैसे पाश्चात्य भाष्यकारों का लक्ष्य वेदों का भाष्य करते हुए विकासवादी दृष्टिकोण से विचार करना था। डार्विन के विकासवाद का कहना था कि आदिकाल में मनुष्य अविकसित अवस्था में था, जंगलों में रहता था। उनकी समझ के अनुसार प्राचीन आर्य जंगल में रहते थे—जंगलों की लकड़ी

काटकर और नदी से पानी लाकर रोटी बनाते और जीवन चलाते थे—उन्हें वे 'Hewers of wood and drawers of water' कहते थे—इस दृष्टि से वेदों में विचार-शैली भी अत्यन्त निम्न-स्तर की होनी चाहिए।

मैक्समूलर ने सायण-भाष्य का अनुवाद किया और साथ-साथ विकासवाद को अपने सामने रखा। विकासवाद के अनुसार आदि-मानव सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-अग्नि-वायु आदि शक्तियों को देखता था, वह इन सबको देवता मानता था, इनकी-पूजा करता था। इस दृष्टि से, मैक्समूलर के अनुसार, वेदों में एकत्व-वाद का विचार नहीं हो सकता, भिन्न-भिन्न देवताओं की स्वतन्त्र सत्ता होने के कारण वेद में एकत्ववाद (Monotheism) के स्थान में बहुत्ववाद (Polytheism) होना स्वाभाविक है। सूर्य एक देवता है, चन्द्र एक देवता है, पृथिवी एक देवता है—वेद का ऋषि इन सब देवताओं की पूजा करता था।

सायण जहाँ वेद का भाष्य करता हुआ यज्ञ के साथ बँध गया; मैक्स-मूलर वहाँ वेद का अर्थ करता हुआ सायण के साथ-साथ बँधा-बँधा तो चलता रहा, परन्तु वह विकासवाद की विचारधारा से अपने को अलग नहीं कर सका। मैक्समूलर के भाष्य पर सायण तथा डार्विन दोनों छाये हुए हैं। श्री अरविन्द घोष पाश्चात्य विद्वानों के भाष्यों पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं :

"पाश्चात्य भाष्यकार लिखते हैं कि वेद का ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था, तब उसमें उन सब गुणों का भी वर्णन कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं; जब वायु की उपासना करता था तब वायु में अन्य सब गुणों का, जो अन्य किसी भी देवता में हैं, वर्णन कर देता था। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकर अनेक देवताओं में विश्वास करता था। यह बात युक्तिसंगत भी है क्योंकि एकेश्वरवाद का विचार तो मानव-मस्तिष्क में बहुत पीछे आया। जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'**—इस मन्त्र द्वारा यह कहा गया है कि ईश्वर एक ही है, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि उस एक ईश्वर के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र पीछे से डाला गया है। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) तथा एकेश्वरवाद (Monotheism) के मुकाबिले में एक नवीन शब्द की रचना की जिसे उन्होंने हीनोथीइज़्म (Henotheism) का नाम दिया। 'हीनोथीइज़्म' का अर्थ है—जब किसी देवता की उपासना की जाय, तब उसी में सब गुण आरोपित कर दिए जायें, अन्य देवताओं को उस देवता से 'हीन' कल्पित

कर लिया जाय। परन्तु यह कल्पना सिर्फ़ इसलिए की जाती है क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत विचार को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। मैक्समूलर इस बात का कोई प्रमाण नहीं दे सके कि—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** (ईश्वर एक ही है, इन्द्र, मित्र, यम आदि उसी के भिन्न-भिन्न नाम हैं)—यह मन्त्र पीछे से वेद में डाला गया है। यह मन्त्र वेद का अभिन्न हिस्सा है, और अगर इससे विकासवाद खंडित हो जाता है, तो पाश्चात्य विचारकों को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए वेद की अन्त साक्षी प्रमाण होगी या रूडोल्फ़ रॉथ तथा मैक्समूलर जो-कुछ कहेंगे, वह बात प्रामाणिक होगी ? वेदों का अर्थ अगर वेदों से ही स्पष्ट होता है, तब उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए। वेद स्वयं कहता है—'एकं सत्' ईश्वर एक है, 'बहुधा वदन्ति'—उसे अग्नि, यम आदि अनेक नामों से कहा जाता है। एकेश्वरवाद का स्वयं वेद द्वारा इतना स्पष्ट वर्णन होते हुए भी मैक्समूलर के 'हीनोथीइज़म' को कैसे माना जा सकता है !" श्री अरविन्द घोष लिखते हैं :

"We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production; this loftier idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorant fire-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophic Dravidian enemies. But throughout the Veda we have conformatory hymns and expressions : Agni or Indra or another is expressly hymned as one with all the other gods Agni contains all other divine powers within himself, the Maruts are described as all the gods, one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, most commonly, he is given as Lord and king of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Ah, but that cannot mean, ought not to mean, must not mean the worship of one; let us invent a new word, call it henotheism and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and

lend a more gracious ear for so hyperbolic a compliment. But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrosity of henotheism ? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions and if you allow them to have risen you imperil our theory of evolutionary stages of human development and you destroy our whole idea about the sense of Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself, common sense disappear from the field so that a theory may flourish ! I ask, in this point and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayanand or the Western Scholars ?"

श्री अरविन्द का कहना है कि वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार वेदों का भाष्य करते हुए विकासवाद के पूर्वाग्रह को साथ लेकर भाष्य करते हैं। अगर वेदों का अर्थ विकासवाद को पुष्ट नहीं करता, तो वे अर्थ को ही तोड़-मरोड़ देते हैं। श्री अरविन्द के कथनानुसार, ऋषि दयानन्द का भाष्य इस प्रकार की तोड़-मरोड़ नहीं करता। फिर भी जादू वह जो सिर पर चढ़कर नाचे। यद्यपि मैक्समूलर तथा पाश्चात्य भाष्यकार विकासवादी पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं, तो भी वेदों में उन्हें इतने उच्च विचार मिलते हैं कि कभी-कभी वे इस सन्देह में पड़ जाते हैं कि उनका पूर्वाग्रह उचित है या अनुचित। ऋग्वेद-संहिता के भाष्य के ४वें खण्ड में वे लिखते हैं :

"It is impossible for one scholar, it will probably be impossible for one generation of scholars to the deciphering of hymns of the Rigveda to a satisfactory conclusion."

मैक्समूलर का कहना है कि किसी एक वैदिक विद्वान् अथवा वैदिक विद्वानों की एक पीढ़ी द्वारा भी ऋग्वेद की ऋचाओं के रहस्यों को खोज निकालना असम्भव है। ऋग्वेद के विषय में इतनी ऊँची सम्मति तभी हो सकती है जब मैक्समूलर को ऋग्वेद में इतने ऊँचे विचार दीख पड़ते हों जिनके मुकाबिले में विकासवाद के विचार हिलते प्रतीत होते हों। ऐसी हालत में वेद-भाष्य करते हुए उनका विकासवाद के दृष्टिकोण से बँधे रहना असंगत प्रतीत होता है।

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों पर बहुत मेहनत की है, वेदों में आये विचारों की मुक्त-कण्ठ से अनेक स्थानों पर प्रशंसा भी की है, तो भी सत्य तक पहुँचने में दो बातें उनके मार्ग में बाधा बनी रही हैं। एक तो विकासवाद, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं; दूसरा, उनका पूर्वाग्रह तथा स्वार्थ। स्वार्थ इस बात का रहा कि युरोपियन भारत को ईसाई बनाने की धुन में थे। उनमें से कई तो ईमानदारी से चाहते थे कि इस देश का उद्धार तभी हो सकता है जब यहाँ ईसाइयत का प्रचार होगा, परन्तु ब्रिटेन के कई लोग यह भी समझते थे कि अगर यह देश ईसाई हो जायेगा तो उसमें अंग्रेजों का शासन देर तक चलता रहेगा। इन दो कारणों से वे वेदों का ऐसा भाष्य कर ही नहीं सकते थे, जिससे इस देश के लोग अपनी सांस्कृतिक विचारधारा को उत्कृष्ट कोटि की समझ कर सिर ऊँचा उठा सकें।

प्रो० मैक्समूलर ने वेदों पर सबसे अधिक काम किया। उनका ध्येय क्या रहा, इसका पता उस पत्र से चलता है जो उन्होंने १८६८ में अपनी पत्नी को लिखा। वे लिखते हैं :

"I hope I shall finish that work and I feel convinced though I shall not live to see it, yet this edition of mine (of the Rig Veda) and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, 'the only way of uprooting' all that has been sprung from it during the last three thousand years."

अर्थात्, मुझे आशा हैं कि मैं उस काम (वेदों के सम्पादनादि) को पूरा कर दूँगा और मुझे निश्चय है कि यद्यपि मैं उसे देखने के लिए जीवित नहीं रहूँगा, तो भी मेरा ऋग्वेद का यह संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य और लाखों भारतीयों की आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालने वाला होगा। यह (वेद) उनके धर्म का मूल है और मूल को दिखा देना, उससे पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ निकलता है, उसको मूल-सहित उखाड़ देने का सबसे उत्तम प्रकार है।

आइये, अब मैक्समूलर के बाद उनके शिष्य मैक्डॉनल के विचारों की कुछ परीक्षा करें।

मैक्डॉनल अपनी पुस्तक 'A Vedic Reader For Students' की भूमिका में लिखते हैं कि "इसके मण्डलों में से आदि ८ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ मण्डल लिखा गया। पहले ८ मण्डल एक इकाई बनाते हैं।।" उनके कहने का अभिप्राय यह है कि पहले आठ तथा अगले दो मण्डलों का समय भिन्न-भिन्न है। आदि के ८ मण्डल पहले लिखे गये, अगले २ मण्डल बाद को लिखे गये।

"The ninth book was added as a consequence of the first eight being formed into a unit."

प्रश्न यह है कि 'इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निं...एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ईश्वर एक है, इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि उसके अनेक नाम हैं), यह तो ऋग्वेद के पहले मण्डल का मंत्र है, नौवें या दसवें मण्डल का नहीं है। फिर इसे प्रक्षिप्त मानने का यही कारण हो सकता है कि यह युरोप की विकासवादी विचारधारा में फिट नहीं बैठता।

इस मंत्र के अलावा ऋग्वेद का एक अन्य मंत्र १-८९-१० भी कुछ इसी विचार का द्योतक है। वहाँ लिखा है:

अदितिः द्यौः, अदितिः अन्तरिक्षम्, अदितिः माता, सः पिता, सः पुत्रः, विश्वेदेवाः अदितिः, पञ्चदेवाः अदितिः, जातम् अदितिः, जनित्वम् अदितिः। कैवल्योपनिषद् में लिखा है:

सः ब्रह्मा, सः विष्णुः, सः रुद्रः, सः शिवः, सः अक्षरः, सः परमः स्वराट्, सः इन्द्रः, सः कालाग्निः, सः चन्द्रमाः।

इन वाक्यों का लगभग वही अर्थ है जो 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का अर्थ है। वैदिक साहित्य में देवताओं के जो नाम दिये गये हैं, वे सब एक भगवान् के ही नाम हैं, उसके भिन्न-भिन्न गुणों के कारण ही भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, अभिप्राय सबका एक ही है।

वेद में तो भिन्न-भिन्न गुणों के कारण भगवान् के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों (नामों) का प्रयोग किया था, किन्तु उत्तर-काल में वे नाम ही भिन्न-भिन्न तथा अनेक देवताओं के वाचक बन गये—यह एक स्थापना है। दूसरी स्थापना यह कि वैदिक-काल के लोग सभ्यता के प्रथम चरण में थे, वे जो दैवी या अनहोनी घटना देखते थे, उसे देवता मानकर उस कल्पित देवता की पूजा करते थे—यह दूसरी स्थापना है। यह दूसरी कल्पना विकासवादियों के सिद्धान्त से मेल खाती है, इसलिये पाश्चात्य भाष्यकार इस कल्पना के साथ चिपटे बैठे हैं, यद्यपि 'एकं सद् विप्राः'—यह एक मंत्र ही उनके सब

किलों को ढहा देता है। इसका उत्तर वे यही दे सकते हैं कि एकेश्वरवाद के सब मन्त्र प्रक्षिप्त हैं। 'प्रक्षिप्त' कह देना दोधारी तलवार है, क्योंकि यम-यमी का संवाद, तथा इन्द्र की कुतिया सरमा या पणि नामक चोरों से संवाद—इन को भी कहने वाले प्रक्षिप्त कह सकते हैं, किन्तु यह समस्या को हल करने का रास्ता नहीं है।

वेदों में नाम-वाचक देवता ही नहीं पाये जाते, भाव-वाचक देवता भी पाये जाते हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र आदि नाम-वाचक देवताओं के अतिरिक्त मन्यु, श्रद्धा, अनुमति, सूनृता, असुनीति, निर्ऋति आदि भाव-वाचक शब्द हैं। आदि-मानव भाव-वाचक शब्दों का कैसे प्रयोग करता होगा ? आदि-मानव को क्रोधी व्यक्ति तो दिखाया जा सकता है, क्रोध क्या है—यह नहीं बतलाया जा सकता; शुद्ध व्यक्ति को तो दिखाया जा सकता है, शुद्धता क्या है—यह नहीं बतलाया जा सकता; श्रद्धालु व्यक्ति को तो दिखाया जा सकता है, श्रद्धा क्या है—यह नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि विकासवाद के अनुसार इन भावों की कल्पना मानव के उत्कृष्ट-विकास का परिणाम है। परन्तु वेद में तो मन्यु, श्रद्धा आदि भाव-वाचक शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। अशरीरी भावों को—सत्य, आशा, श्रद्धा, मृत्यु को—संबोधन उच्चकोटि का कवि ही कर सकता है, और यह सर्वविदित है कि साहित्य की चरम सीमा कविता है। मैक्डॉनल का कथन है :

"One result of advance of thought during the period of Rigveda, from concrete towards abstract, was the rise of abstract deities."

अर्थात्, ऋग्वेद के काल में विचारों का जो क्रमिक विकास हुआ, उसका ही यह परिणाम था कि देवताओं के स्थूल रूप से उनके सूक्ष्म रूप विचार किया जाने लगा और उसी सूक्ष्म रूप को देवता कहा जाने लगा।

उदाहरणार्थ, इन्द्र को संसार का धारण करने के कारण ऋग्वेद में धाता कहा जाता है; विकास का यह परिणाम हुआ कि धाता के स्थान में धातृ—Upholding—यह सूक्ष्म विचार (Abstract conception) उत्पन्न हो गया। मैक्डॉनल का कथन है कि प्रजापति, विश्वकर्मन्, हिरण्यगर्भ आदि सब शब्द देवताओं के विशेषण हैं, परन्तु कालान्तर में ये स्वतन्त्र गुणवाचक शब्द बन गये। इसी प्रकार मन्यु, श्रद्धा, अनुमति, सूनृता, असुनीति आदि भाववाचक देवताओं (Abstract deities) का विकास हुआ।

मैक्डॉनल का कहना है कि देवताओं को भाववाचक या abstract रूप

में, Concept के रूप में सोचना ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में प्रारम्भ हुआ; उससे पहले देवताओं को स्थूल रूप अर्थात् Concrete form में सोचा जाता था। परन्तु उनकी यह बात निराधार है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में (१, ८९, ३) 'भग' शब्द पाया जाता है जिसका अर्थ समृद्धि (Prosperity) है, जो भाववाचक (Abstract) शब्द है। 'अदिति' के विषय में वे स्वयं लिखते हैं कि इस शब्द का अर्थ स्वतन्त्रता—Liberation, Freedom—है, जो सम्पूर्ण ऋग्वेद में बिखरा हुआ है, यह भी भाववाचक शब्द है जो प्रथम मण्डल में, जहाँ से ऋग्वेद शुरु होता है, वहाँ पाया जाता है, जब कि मैक्डॉनल के अनुसार विचारों का विकास शुरु ही नहीं हुआ था।

असल में, पाश्चात्य भाष्यकारों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का विचार है। इन लोगों के लिए विकासवाद का सिद्धान्त पहले है, उसके बाद जो-कुछ सामने आया, उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटा कर देखने का प्रयत्न किया जाता है। विकासवाद के सिद्धान्त की कसौटी पर परख कर ही ये लोग हर बात के सही या ग़लत होने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार का चिन्तन वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। हमारी विचार-पद्धति पर भी यही नियम लागू होना चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् यह सोच-कर वेद का अर्थ करें कि कोई अर्थ विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं जाता, और वैदिक-विद्वान् यह सोचकर वेद का अर्थ करें कि कोई अर्थ वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं जाता—यह पूर्वाग्रह की मनोवृत्ति है, जिसने वेदार्थ-विषय को ग्रसा हुआ है जिससे सब को मुक्त होना चाहिए।

इतना कह चुकने के बाद वर्तमान युग के वेदों के भाष्यकार महर्षि दया-नन्द की वेद-भाष्य पद्धति तथा उनके दृष्टिकोण पर कुछ विचार करना उचित प्रतीत होता है क्योंकि सायण, महीधर, मैक्समूलर, मैक्डॉनल आदि सब भाष्यकारों की तुलना में ऋषि दयानन्द की भाष्य-पद्धति अपने ढंग की अनूठी पद्धति है। यद्यपि यह पद्धति यास्क के निरुक्त पर आधारित है, तो भी इस पद्धति का अक्षरशः अनुसरण ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त अन्य किसी ने नहीं किया। ऋषि दयानन्द का वेदों के विषय में अपना ही दृष्टिकोण है जिसने वैदिक विद्वानों की विचारधारा को प्रभावित किया है। यदि यह कहा जाय कि ऋषि दयानन्द ने सदियों से चली आ रही वेदार्थ-शैली को बिल्कुल पलट दिया तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य की अनेक विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उन्होंने अपने भाष्य में संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी अर्थ दिया है। अभी तक भारतीय विद्वानों द्वारा जो भाष्य हुए थे वे केवल संस्कृत में थे, इसलिए सर्व-साधारण इस बात से अनभिज्ञ थे कि वेदों में क्या कहा गया है। संस्कृत जानने या न जानने वाला वेद के नाम से जो कह देता था, वह वेद समझा जाता था। ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य की दूसरी विशेषता यह है कि यह भाष्य सायण, महीधर आदि के सब भाष्यों से भिन्न है। ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के **भाष्यकरण-शंका-समाधानादि** प्रकरण में ऋषि दयानन्द लिखते हैं :

"यानि रावणोवट-सायण-महीधरादिभिः वेदविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि च एतदनुसारेण इंग्लैंड-शार्मण्य-देशोत्पन्नैः यूरोप-खण्ड-देशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैव आर्यावर्त-देशस्थैः कैश्चित् तदनुसारेण प्रकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाणि अनर्थगर्भाणि सन्ति।"

ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि रावण, उवट, सायण, महीधर आदि ने जो वेद-भाष्य किये हैं, अथवा उनका अनुकरण करते हुए इंग्लैंड तथा जर्मन आदि युरोप के निवासियों ने अपनी-अपनी भाषा में जो भाष्य किये हैं, एवं भारतीय विद्वानों ने जो भाष्य किये हैं या वे कर रहे हैं, वे सब अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं।

उदाहरणार्थ, ऋषि दयानन्द का कहना है कि सायण ने सब वेदों का जो यज्ञपरक अर्थ किया है, यह बात ग़लत है। वेदों में परमार्थ का—आत्म-परमात्मा का—वर्णन है, परन्तु सायण का कहना तो इतना ही है—'**सर्वे वेदा क्रियाकाण्डपराः सन्ति**'—सब वेद कर्मकाण्ड का ही वर्णन करते हैं।

सायण-भाष्य से मतभेद दर्शाते हुए ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के इसी प्रकरण में ऋषि दयानन्द ने निम्न मन्त्र का उल्लेख किया है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

वेदों में एक ईश्वर की उपासना है या उनमें बहुदेवतावाद—इस शंका का समाधान करने में इस मंत्र का बहुत महत्त्व है। इस मंत्र का सही अर्थ समझा जाय तो स्पष्ट है कि ईश्वर एक है, भिन्न-भिन्न गुणों के कारण ही उनके अनेक नाम हैं। उसके जो अनेक गुण हैं वे उस एक के विशेषण हैं। परन्तु सायण ने ऐसा अर्थ नहीं किया। सायण ने इस मंत्र के 'इन्द्र' शब्द

को 'विशेष्य' करके वर्णन किया है, 'मित्रादि' शब्दों को उसके विशेषण ठहराया है। 'अग्नि' शब्द को इस मंत्र में दो बार इसलिए दोहराया गया है क्योंकि अन्य शब्द 'अग्नि' के ही विशेषण हैं, 'इन्द्र' के नहीं। यह मतभेद बहुत साधारण-सा है, परन्तु यह मंत्र पाश्चात्य विद्वानों के विचार का सारा ढाँचा गिरा देने के लिए काफ़ी है। मैक्समूलर आदि भाष्यकार विकासवाद के हामी थे, और इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे कि हज़ारों साल पहले के वेद-ग्रन्थ एकेश्वरवाद का प्रतिपादन कर सकते हैं। इस मन्त्र में तो स्पष्ट कहा—'एकं सत्'—वह एक है, उसके भिन्न-भिन्न गुणों के कारण उसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। विकासवाद के साथ इस विरोध को देखकर मैक्स-मूलर आदि युरोपीय विद्वानों ने यह कहना शुरु किया कि ऋग्वेद का यह मन्त्र पीछे का है। इसके साथ एक नई कल्पना को जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं जन्म दिया गया जिसे 'हीनोथीइज़्म (Henotheism) कहा जाता है। वे कहने लगे कि वेद के ऋषि जिस देवता की भी उपासना करने लगते थे, उसी को सिर पर चढ़ा देते थे, अन्यों को हीन बना देते थे। ऋषि दया-नन्द ने इस मंत्र का उद्धरण देकर यह सिद्ध कर दिया कि ऐसी बात नहीं है—ये सब नाम परमेश्वर के ही हैं। वेद स्वयं इस बात को कहता है। फिर वेद की बात मानें या मैक्समूलर की बात मानें ?

ऋषि दयानन्द जहाँ सायण की भाष्य-शैली को मानने के लिये तैयार नहीं, वहाँ महीधर की शैली भी उन्हें स्वीकार नहीं। महीधर ने तो सायण को भी मात कर दिया है। दोनों यज्ञपरक अर्थ ही करते हैं, परन्तु महीधर का अर्थ तो महा अनर्थकारी है। महीधर ने उव्वट के भाष्य का ही अनुकरण किया है, इसलिए उव्वट के विषय में कुछ न लिखते हुए ऋषि दयानन्द ने महीधर के भाष्य का नमूना 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' में दिया है।

यजुर्वेद के 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्। (यजु०, अ० २३, मं० १९, २०, २१, २२, २३)—इस मंत्र की व्याख्या करते हुए महीधर ने इतना अश्लील अर्थ किया है कि लिखते हुए भी लज्जा आती है। किसी कामोत्तेजक पुस्तक में भी ऐसा अश्लील तथा गंदा वर्णन नहीं मिलता, जैसा महीधर ने किया है।

'गणानां त्वा' (यजु०, यध्याय २३, मंत्र १९) से 'यद्धरिणो यवमत्ति' (यजु०, अध्याय २३, मंत्र ३१) तक के मंत्रों का महीधर ने जो अश्लील अर्थ

किया है वह 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' में दिया हुआ है। महीधर के अर्थ को पढ़कर चार्वाकों तक को कहना पड़ा :

त्रयो वेदस्य कर्तारः भाण्ड-धूर्त-निशाचराः।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥
अश्वस्यास्य शिश्नं तु पत्नी ग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यं जातं प्रकीर्तितम्।
मांसानां खादनं तद्वद् निशाचर-समीरितम्।

'गणानां त्वा' आदि मंत्रों का ऋषि दयानन्द ने अपना अर्थ दिया है जो बुद्धिसंगत है। ऋषि दयानन्द इन मंत्रों के महीधर के तथा अपने भाष्य को लिखकर टीका करते हैं :

"आगे कहाँ तक लिखें! इतने से ही सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें। जब इन्हीं लोगों के भाष्य अशुद्ध हैं, तब युरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी भाषा में वेदों के व्याख्यान किए हैं, उनकी अशुद्धि की गणना ही क्या है! इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं दीख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है।"

प्रश्न हो सकता है कि क्या महीधर का अर्थ इसलिए त्याज्य समझ लिया जाय क्योंकि वह अश्लील व गंदा है? या इसलिए छोड़ा जाय क्योंकि वह अर्थ है ही नहीं। जिन मंत्रों का महीधर ने अर्थ किया है, वह अर्थ इतना अश्लील है कि कामशास्त्र के ग्रन्थों में भी उतनी बेहूदा भाषा का प्रयोग नहीं किया गया।—वैसा अर्थ मंत्रों को तोड़-मरोड़कर भी नहीं हो सकता। ऐसी हालत में महीधर के किए अर्थ को तभी माना जा सकता है जब हमारा इरादा ही वेदों से घृणा उत्पन्न कराना हो।

सायण आदि के भाष्य यज्ञपरक हैं, युरोपियन विद्वानों के भाष्य सायण को आधार बनाकर विकासवादपरक हैं, ऋषि दयानन्द के भाष्य निरुक्तपरक हैं, रुढ़िवाद को छोड़कर चलते हैं। क्योंकि ऋषि दयानन्द ने वेद-भाष्य में रुढ़िवाद का सहारा नहीं लिया, इसलिए उस भाष्य में लचक है, अर्थ में स्वतन्त्रता है, अनेकार्थता है। ऋषि दयानन्द का भाष्य वेदों के अर्थों को रूढ़ि न मानकर यौगिक मानता है जो इस भाष्य की असाधारण विशेषता है।

(क) **रूढ़िवाद तथा यौगिक**— ऋषि दयानन्द के भाष्य की विशेषता यह है कि उसमें शब्दों का रूढ़ अर्थ न करके यौगिक अर्थ किया गया है। 'इन्द्र' का अर्थ करते हुए पुराण-प्रसिद्ध अर्थ नहीं किया, उसकी निरुक्ति की गई है—**इदि परमैश्वर्ये**—जिसमें ऐश्वर्य हो, वह इन्द्र है। ऐश्वर्य के कारण

इन्द्र का अर्थ परमात्मा भी हो सकता है, सूर्य भी हो सकता है, राजा भी हो सकता है। यह दिशा यास्क के निरुक्त ने दी है। निरुक्त के ४ थें अध्याय में लिखा है—'**एकार्थमनेकशब्दम् इत्येतदुक्तम्; अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतः अनुक्रमिष्यामः**—अनेक शब्दों का एक अर्थ होता है, और एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इस फार्मूले का अर्थ एक ही है। इसका अर्थ यह है कि 'इन्द्र', 'मित्र', 'वरुण'—ये अनेक शब्द हैं, परन्तु इनका अर्थ ऐश्वर्यवान् आदि होने के कारण परमात्मा, सूर्य, राजा—ये सब हो सकते हैं। इसी प्रकार 'गौ'—यह एक शब्द है, परन्तु इसका अर्थ गमनशील होने के कारण पृथिवी, गाय आदि ये सब हो सकते हैं। यह शैली यास्क के निरुक्त की है, इसी शैली को आधार बनाकर महाभाष्यकार (१, ३, १) पतंजलि का कहना था—'**बह्वर्थाः धातवो भवन्ति**'—अर्थात्, धातुओं के एक नहीं, अनेक अर्थ होते हैं। निरुक्तकार ने शाकटायन (१, १२, २,) का उद्धरण देते हुए लिखा है—**नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च**—अर्थात् वैदिक शब्द जिन्हें यहाँ नाम कहा गया है आख्यात अर्थात् धातु से बने होते हैं, इसलिए वैदिक शब्दों का अर्थ समझते हुए धात्वर्थ को ही यथार्थ अर्थ समझना चाहिए। निरुक्तकार की यही शैली है। और, इसी शैली को ऋषि दयानन्द ने अपनाया है। इस शैली का अर्थ है—वेदों में शब्दों का रूढ़ अर्थ नहीं है, यौगिक अर्थ हैं; उनकी व्युत्पत्ति करने से, उनकी धातु को जानने से जो अर्थ बनता है, वह अर्थ है। उदाहरणार्थ—देवता का क्या अर्थ है ? रूढ़ अर्थ किया जाय तो जगत् में जो प्रसिद्ध देवता हैं, वे इस शब्द से लिए जायेंगे, परन्तु निरुक्तकार (अध्याय ७, खंड १५) ने देवता का अर्थ—**देवो दानात् वा, दीपनात् वा, द्योतनात् वा, द्युस्थानो भवतीति वा**—इस प्रकार किया है। ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-शैली का यही गुर है। इसी को आधार बनाकर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के १०० नाम व्युत्पत्तिपूर्वक लिखे हैं।

(ख) **मंत्रों के तीन प्रकार**—यास्क ने दैवतकाण्ड के प्रारम्भ में देवता का अर्थ समझाते हुए लिखा है : '**यत्कामः ऋषिः यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यं इच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति**'—ऋषि जिस कामना से मंत्र द्वारा स्तुति करता है, वही कामना उस मंत्र का देवता समझना चाहिए। वेदों के यौगिक अर्थ करने का यह अवश्यंभावी परिणाम है।

मंत्र का अर्थ यौगिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो सकता है। मंत्रार्थ में ऋषि —अर्थात् मंत्र का अर्थ देखने वाले–की कामना उस मंत्र में परमात्मा की स्तुति करने की हो सकती है, राजा की हो सकती है, प्रजा की हो सकती है, गुरु को हो सकती है, जड़-जंगम जगत् में किसी की भी स्तुति करने की कामना हो सकती है। वही उस मंत्र का देवता समझना चाहिए। इस दृष्टि से वेदों के मंत्रों के ऊपर लिखे देवता तथा ऋषि बदल सकते हैं, वही रहें यह ज़रूरी नहीं है। यास्क का यह सुझाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनकाल में जिस-जिस मंत्र द्वारा जिस ऋषि ने स्तुति की, उस ऋषि तथा देवता—अर्थात् ऋषि की कामना—का उल्लेख विद्यमान मंत्रों में हैं, आज जो व्यक्ति मंत्र का अर्थ करता है वह उस मंत्र का वर्तमान ऋषि है, और जिस कामना से स्तुति करता है वह कामना उस मंत्र का देवता है। इस दृष्टि से मंत्रों के ऋषि तथा देवता बदल सकते हैं। परन्तु मंत्र द्वारा स्तुति करने वाले ऋषि की कामनाएँ तो अनेक हो सकती हैं, इसलिए यास्क ने उन मंत्र-द्रष्टाओं की कामनाओं को तीन भागों में विभक्त कर दिया है। यास्क का उल्लेख करते हुए ऋषि दयानन्द 'ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका' के **वैदिकप्रयोगविषयः**—इस प्रकरण में लिखते हैं :

"ताः त्रिविधाः ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिकाश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिः युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृताः मध्यमपुरुषयोगाः त्वम् इति चैतेन सर्वनाम्ना। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। अथाध्यात्मिकाः उत्तमपुरुषयोगाः अहम् इति चैतेन सर्वनाम्ना ।। (निरुक्त, अ० ७, खण्ड १,२)।

इसका अर्थ यह है कि ऋचाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है। वे तीन भाग हैं—'**परोक्ष**' देवता की स्तुति करना, '**प्रत्यक्ष**' देवता की स्तुति करना तथा '**अध्यात्म**' देवता की स्तुति करना। प्रत्यक्ष तो वह है जो सामने दीखता है—वह जड़ भी हो सकता है, चेतन भी हो सकता है। नदी-पहाड़-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि जड़ तथा प्रत्यक्ष हैं। इन्हें सम्बोधन कर वेद-मंत्रों में स्तुति की गई है। जड़ की स्तुति का यह अर्थ नहीं है कि जड़ में आत्मा मौजूद है। सूर्य-चन्द्रादि को सम्बोधन करके जो मंत्र पढ़े जाते हैं, वे उनमें जीवात्मा मानकर नहीं पढ़े जाते। जगत् में मूर्ख से लेकर विद्वान् तक सभी जड़ पदार्थों के विषय में चेतनवत् व्यवहार करते हैं। कवि लोग जड़ पदार्थों के विषय में ठीक उसी

प्रकार गीत गाते हैं जैसे चेतन के विषय में अगर मंत्रों में सूर्य-चन्द्रादि जड़ पदार्थों के विषय में चेतनवत् व्यवहार मिलता है, तो उससे मैक्समूलर आदि की यह कल्पना कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है कि प्राचीन ऋषि इनको चेतन मानकर इनकी पूजा करते थे। जैसे नदी-पहाड़-सूर्य-चन्द्र आदि जड़ तथा प्रत्यक्ष पदार्थों के सम्बन्ध में उन्हें सम्बोधित करके वेदों में स्तुति-मंत्र हैं, वैसे चेतन तथा प्रत्यक्ष सत्ताओं के विषय में भी स्तुति-मंत्र हैं। उदाहरणार्थ—राजा, गुरु, पिता-माता आदि चेतन तथा प्रत्यक्ष सत्ताओं के विषय में वेद में अनेक मंत्र पाये जाते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि निरुक्तकार ने मंत्रों के अर्थों को जिन तीन भागों में बाँटा है, उनमें 'प्रत्यक्षकृता:' ऋचाएँ वे हैं जिनका उन पदार्थों से सम्बन्ध है जिन्हें हम—वे जड़ हों या चेतन हों—प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए जब किसी ऋचा का—चाहे वह जड़ हो या चेतन—प्रत्यक्ष-परक अर्थ हो, उसे तू या आप से ही तो सम्बोधित करेंगे।

जैसे कई ऋचाएँ प्रत्यक्ष-परक हैं, वैसे कई ऋचाएँ परोक्ष-परक हैं। परोक्ष का अर्थ है—जो सामने न हो। इस व्याख्या से अध्यात्म-परक भी परोक्ष है, परन्तु निरुक्तकार ने परोक्ष को परोक्ष तथा अध्यात्म—इन दो वर्गों में बाँटा है। अध्यात्म में आत्मा-परमात्मा आ जाते हैं जो परोक्ष हैं। जितना भी परोक्ष संसार है, उसमें आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, वह भी 'परोक्ष-कृता:' में आ जाता है। आत्मा-परमात्मा भी परोक्ष हैं, परन्तु वे इतने महत्वपूर्ण हैं कि परोक्ष होते हुए भी उन्हें एक अलग वर्ग में ही रखा गया है। पूछा जा सकता है कि आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त परोक्ष क्या है? जितना भी अज्ञात संसार है वह सब परोक्ष ही है। संसार में जितने आविष्कार दिनोंदिन हो रहे हैं वे सब परोक्ष हैं, अज्ञात हैं, वे अज्ञात से ज्ञात में, परोक्ष से प्रत्यक्ष में आ जाते हैं। आत्मा-परमात्मा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष से भिन्न कोटि के हैं, अध्यात्म हैं, वे अज्ञात की कोटि में ही रहते हैं।

इस प्रकार ऋचाओं के तीन प्रकार के अर्थ हुए—प्रत्यक्ष-परक, परोक्ष-परक तथा अध्यात्म-परक। यद्यपि अध्यात्म-परक का समावेश परोक्ष-परक में हो जाता है, तो भी परोक्ष-परक को दो भागों में बाँटा गया है—नितान्त-परोक्ष जैसे आत्मा, परमात्मा; सापेक्ष परोक्ष, जैसे जो परोक्ष है, परन्तु प्रत्यक्ष हो सकता है या जो नितान्त परोक्ष नहीं है।

निरुक्तकार ने कहा कि प्रत्यक्ष के साथ त्वम्, परोक्ष के साथ 'स:' तथा अध्यात्म के साथ अहम् का प्रयोग पाया जाता है। जिस मंत्र की व्याख्या

में 'तू' या 'आप' लगाना पड़े, वह प्रत्यक्षकृत ऋचा है; जिसमें 'वह' लगाना पड़े वह परोक्षकृत ऋचा है; जिसमें 'मैं' लगाना पड़े वह अध्यात्मकृत ऋचा है, ऐसी ऋचा जिसमें आत्मा या परमात्मा मानो अपने लिए कह रहा है।

ये तो ऋचाओं के तीन प्रकार हैं—कोई ऋचा प्रत्यक्षपरक है, कोई परोक्ष-परक है, कोई अध्यात्मपरक है—इस दृष्टि से किसी ऋचा में उन पदार्थों का वर्णन है जो प्रत्यक्ष दीखते हैं; किसी में उनका जो परोक्ष हैं, परन्तु किसी विधि से प्रत्यक्ष हो सकते हैं; किसी में अध्यात्म का—आत्मा-परमात्मा का जो परोक्ष ही रहते हैं। इस प्रकार ऋचाओं के विषयों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्रत्यक्षपरक, परोक्षपरक तथा अध्यात्मपरक। इसका यह अर्थ नहीं है कि हर-एक ऋचा के तीन अर्थ हैं, निरुक्तकार का इतना ही कथन है कि स्तोता जिन शक्तियों को सम्बोधित करके अपनी कामना से उनकी स्तुति करता है, उन शक्तियों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है – प्रत्यक्ष-शक्ति को लक्ष्य में रखकर स्तुति करना; परोक्ष-शक्ति को लक्ष्य में रखकर स्तुति करना, अध्यात्म-शक्ति को लक्ष्य में रखकर स्तुति करना। कामना का जो देवता है—लक्ष्य है—वह प्रत्यक्ष, परोक्ष या अध्यात्म हो सकता है, और, जब हम मन्त्र उच्चारण कर रहे होते हैं, तब कामना के उस देवता को सम्बोधित कर रहे होते हैं।

(ग) **मन्त्र के अर्थ दो तरह के भी हो सकते हैं—पारमार्थिक या व्यावहारिक—** 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के प्रतिज्ञा-विषय में ऋषि दयानन्द लिखते हैं: "इस वेद-भाष्य में जिस-जिस मन्त्र का पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का श्लेषादि अलंकार द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा, उस-उसके दो-दो अर्थ करेंगे, परन्तु ईश्वर का भी मन्त्र के अर्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होता।" इसका अभिप्राय यह कि ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में पारमार्थिक अर्थ तो सब मन्त्रों का किया है और यथासम्भव व्यावहारिक अर्थ भी किया है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' की टिप्पणी में इस स्थल पर लिखते हैं : "ऋषि दयानन्द ने आरम्भ में प्रति मन्त्र दो-दो अर्थ किए थे। तदनुसार उन्होंने संवत् १९३३ में ऋग्वेद-भाष्य का एक नमूने का २४ पृष्ठों का अंक छपवाया था। उसमें प्रथम सूक्त सम्पूर्ण और द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के द्वितीय अर्थ का कुछ भाग था इसी प्रकार दो-दो अर्थों वाला ऋग्वेद-भाष्य

कुछ सूक्तों तक हस्तलिखित रूप में परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान है।"

यही कारण है कि ऋषि दयानन्द के भाष्य में प्रत्येक मन्त्र का आत्मा-परमात्मा-परक अर्थ तो दिया ही गया है, साथ ही अनेक स्थानों पर राजा, अध्यापक आदि—इस तौर पर व्यवहारिक अर्थ भी दिया है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मन्त्रों के अर्थों को निरुक्तकार ने तीन भागों में बांटा है—प्रत्यक्ष-परक, परोक्ष-परक, तथा अध्यात्म-परक। उसी को ऋषि दयानन्द ने सरल करके दो भागों में बांटा है—व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। इस दृष्टि से देखा जाय तो व्यावहारिक में प्रत्यक्ष-परक ऋचाएँ आ जाती हैं, पारमार्थिक में परोक्ष-परक तथा आध्यात्मिक। दोनों प्रकार के वर्गीकरण में कोई मौलिक भेद नहीं है।

इस प्रकार का, अर्थों के दो प्रकारों का वर्णन उपनिषदों में भी पाया जाता है। केनोपनिषद् (४-४,५) तथा छान्दोग्य (प्रथम प्रपाठक, तृतीय खण्ड) में 'इत्यधिदैवतम्'—'अथाध्यात्मम्' एवं पंचम खण्ड में भी 'इत्यधिदैवतम्'—'अथाध्यात्मम्'—इन शब्दों से उपनिषदों के ऋषि एक ही बात को दो जगह घटाने का प्रयत्न करते हैं। उपनिषद् में अध्यात्म का अर्थ है—जो नियम पिण्ड, अर्थात् व्यवहार में काम करता है, वही नियम अधिदैवत—इस ब्रह्माण्ड में अर्थात् परमार्थ में काम करता है—**यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।**

हमने देखा कि ऋषि दयानन्द की वेदों के भाष्य की शैली उवट, महीधर, सायण, मैक्समूलर तथा मैक्डानल से भिन्न है। इस भाष्य-शैली में ऋषि दयानन्द का अन्य भाष्यकारों की अपेक्षा मौलिक दृष्टिकोण है। यद्यपि ऋषि दयानन्द को अपने जीवन के अन्तिम दस ही वर्षों में इतना विशाल कार्य करने का समय मिला था, तो भी जितना कार्य वे कर गए, वह इतना महान् है कि उतने कार्य के लिए बीसियों वर्ष लग जाते। इसलिए उनके भाष्य को पढ़कर अगर कहीं शंका उत्पन्न हो, तो समझ लेना चाहिए कि उन्होंने एक दिशा दिखलाई है जिसकी तरफ़ चलकर हमें वेदों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके द्वारा अर्थ किए गए एक-एक मन्त्र पर शंका करने लगना उनके कार्य की महानता को न समझना है।

ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य पर टीका करते हुए श्री अरविन्द घोष ने कहा है :

"In the matter of Vedic interpretation...Dayanand will be honoured as the first dicoverer of the right clues. Amidst

the chaos and obscurities of old ignorance and age-long misunderstanding, his was the eye of direct vision, and pierced to the truth and fastened on that which was essential."

अर्थात्, जहाँ तक वेदों को समझने का प्रश्न है, दयानन्द को इस बात के लिए स्मरण किया जायेगा कि वे पहले व्यक्ति थे जिनके हाथ में वेदों का ठीक-ठीक अर्थ जानने की कुंजी आ गई थी। वेदों के अर्थों के विषय में सदियों से जो अव्यवस्था, अस्पष्टता तथा अज्ञान फैला हुआ था, उन सबको भेदकर सीधा वेदार्थ को देख लेने की आँख दयानन्द को ही मिली थी। उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से अज्ञानान्धकार को भेदकर सत्य पर अपनी दृष्टि जमा दी थी।

———

तृतीय व्याख्यान

वैदिक आख्यानों का वास्तविक स्वरूप

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

एक बुढ़िया थी। उसके दो बेटे थे। एक मां का आज्ञाकारी था और उसकी सेवा करता था। दूसरा उद्दण्ड था और मां को सदा तंग करता रहता था। मां ने आज्ञाकारी बेटे की सेवा से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया कि तू सदा ठण्डे ठण्डे आयेगा और ठण्डे-ठण्डे जायेगा। दूसरे बेटे के व्यवहार से तंग आकर मां ने उसे शाप दिया कि तू सदा जलता-जलता आयेगा और जलता-जलता जायेगा। मां के आशीर्वाद से पहला बेटा चन्द्रमा बन गया और दूसरा उसके शाप के कारण सूर्य बन गया। आज भी वह बुढ़िया अपने आज्ञाकारी बेटे के पास रह कर चरखा कातती हुई चन्द्रमा में देखी जा सकती है।

कहानी पढ़-सुन कर ऐसा लगता है कि उस बुढ़िया के बेटों से ही सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। उससे पहले संसार में न सूर्य था और न चन्द्रमा। पर वह बुढ़िया और उसके बेटे अवश्य थे। कौन तैयार होगा इस बात को वास्तविक ऐतिहासिक घटना अथवा सूर्य तथा चन्द्रमा की उत्पत्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया मानने के लिये। सब यही कहेंगे कि यह तो पंचतन्त्र अथवा हितोपदेश की कहानियों की तरह बच्चों को शिक्षा देने के लिये बनाई गई कहानी है। वेद के व्याख्या ग्रन्थों तथा उनसे संबन्धित अथवा उन पर आधारित वैदिक वाङ्मय में कहे गये आख्यानों का यही वास्तविक स्वरूप है।

शास्त्रावताररूप इतिहास का प्रतिपादन यास्काचार्य ने निरुक्त में इस प्रकार किया है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च। निरुक्त १।२०

अर्थात्—सृष्टि के प्रारम्भ में साक्षात्कृतधर्मा (मन्त्रार्थ का साक्षात् दर्शन करने वाले) ऋषि हुए थे। उन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों के लिये उपदेश

से मन्त्रों के अर्थ जताये। उत्तरकाल में उपदेश मात्र से वेद को समझने में असमर्थ मनुष्यों के लिये निघण्टु-निरुक्त तथा अन्य वेदाङ्गों की रचना हुई।

इस सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्॥

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।१

अर्थात्—जिनके लिये ज्ञान दुर्बोध्य हुआ जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिये सब वेदों से ज्ञान लेकर ऋषियों ने शास्त्र बनाये।

कालान्तर में जब रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द पड़ने लगी तो ऋषियों ने मन्त्रगत गूढ़तत्त्वों को समझाने के लिये मन्त्रगत पदों के आश्रय से तद्विषयक आख्यायिकाओं की कल्पना की। जैसे जनता को समझाने के लिये व्याख्यानों एवं कल्पित रोचक कथाओं द्वारा किसी गंभीर बात को विस्पष्ट किया जाता है वैसे ही वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में वेदार्थानुकूल रोचक कथाओं की कल्पना करना आवश्यक समझा गया। यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व **अत्रेतिहासमाचक्षते** कह कर काल्पनिक इतिहास या आख्यायिका लिखने का प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। निरुक्त १०।१०

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टा कवि की स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये उसे कथा से संयुक्त करने में प्रीति होती है। वेद के सन्दर्भ में 'इतिहास' का लक्षण बताते हुए दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त टीका (१०-२६) में लिखा है—

"**यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्टदिचुतार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते।**"

अर्थात्—जो कोई भी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ भाग्य से बुद्धि में उत्पन्न हुआ उसे प्रकट करने के लिये जो कथन होता है वह इतिहास कहाता है। स्पष्ट है कि यहां प्रयुक्त इतिहास पद किसी वास्तविक घटना अथवा प्रचलित अर्थों में इतिहास का वाचक नहीं है। सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्त-टीका (भाग २, पृष्ठ ७८) में लिखा—

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान-समयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्।

अर्थात्—इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान का वर्णन किया गया है उन सब मन्त्रों की नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अथवा गौण है। वास्तव में तो नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है। इसी सिद्धान्त के अनुसार स्कन्दस्वामी ने देवापि और शन्तनु को विद्युत् और जल का वाचक बता कर तत्संबन्धी सूक्त की संगति लगाकर दिखाई।

स्वयं यास्क ने सरण्यू विषयक मन्त्र की व्याख्या करते हुए **तत्रेतिहासमाचक्षते** कह कर एक आख्यान लिखा (निरुक्त १२।१०)। परन्तु अगले ही खण्ड में उस आख्यान संबन्धी ऋचा की व्याख्या करके अन्त में स्पष्ट कर दिया कि सरण्यू विषयक उल्लेख किन्हीं व्यक्ति-विशेष का इतिहास न होकर रात्रि और सूर्यादिक पदार्थों का आलंकारिक वर्णन है। प्राकृत जगत् के कारण तथा कर्मरूप तत्त्वों का औपचारिक अथवा कारिक वर्णन देखकर किसी को वहां वास्तविक इतिहास का भ्रम न हो जाये, इसलिये मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी ने लिख दिया—**इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति**—अर्थात् यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है, है नहीं। इतिहास हो नहीं, किन्तु इतिहास जैसा लगे—ऐसा किया ही क्यों जाता है? शबरस्वामी समाधान करते हैं—

"असद् वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्।" १।२।१०
"वृत्तान्तान्वाख्यानं न वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि? प्ररोचनायैव॥"
१।२।३०

अर्थात्—जो हुआ नहीं, कल्पित है, उसका अन्वाख्यान स्तुति द्वारा प्रशंसा के अभिप्राय से होता है। घटनाओं का उल्लेख घटनाओं का ज्ञान कराने के लिये नहीं, बात को रोचक बनाने के लिये किया जाता है।

स्कन्द से भी पूर्ववर्ती माने जाने वाले आचार्य वररुचि ने अपने निरुक्तसमुच्चय (पृष्ट ७१) में **औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्**। मन्त्रों में आख्यानों को औपचारिक माना है, क्योंकि वैसा न मानने पर वेद के नित्यत्व का विरोध हो जायेगा।

आख्यानों के इस रहस्य को भूलकर कालान्तर में उन्होंने कुछ और ही रूप धारण कर लिया। पहले वेदमन्त्रों के अन्तर्गत सामान्य संज्ञापदों की व्यक्तिगत संज्ञा के रूप में कल्पना करके व्याख्या ग्रन्थों में भूमिका की कल्पना की गई। फिर उस कल्पित भूमिका के आधार पर वेद से भिन्न कुछ नामों को जोड़ कर छोटे-छोटे कथानक बने और कालान्तर में उन्हीं कथानकों को

वास्तविक घटना या आख्यान का नाम दे दिया गया। इस प्रकार रोचकता उत्पन्न करने के लिये की गई कल्पना को वास्तविक मान लिया गया। कालान्तर में मन्त्रों के आधार पर आख्यानों को कल्पना न मान कर आख्यानों के आधार पर मन्त्रों का बनाया जाना मानने लगे, ठीक वैसे ही जैसे कोई बुढ़िया और उसके बेटों की कहानी के आधार पर सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति मानने लगे।

यास्क से पूर्व वेदों में अनित्य परिमित कालावगम्य तथा हम मानवों की कृतियों के सदृश इतिहास मानने वालों का वर्ग जन्म ले चुका था। इसलिये यास्क ने जहां तत्रैतिहासमाचक्षते कह कर आख्यानों की कल्पना करके अपनी बात को स्पष्ट किया है वहां इत्यैतिहासिकाः कह कर उन्होंने विरोधी मत को प्रस्तुत कर उसका परिहार किया है। जैसे—तत्र को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुरः इत्यैतिहासिकाः (निरुक्त २-१६)। इस प्रकार दोनों पक्षों को प्रस्तुत कर उन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट किया है।

वैदिक आख्यानों के अनेक भेद होने पर भी उन्हें तीन श्रेणियों में रखकर उनका वर्णन किया जा सकता है। पहली श्रेणी में ऐसे कथानक हैं जो वेद मन्त्रों में पढ़े गये भिन्न-भिन्न सामान्य संज्ञापदों को व्यक्ति अथवा स्थान विशेष का वाचक मान कर बनाये गये हैं। दूसरी श्रेणी में ऐसे कथानक आते हैं जो मन्त्रद्रष्टा कहे जाने वाले ऋषियों के नाम पर अथवा उनके चरित के वर्णन में लिखे गये हैं। तीसरी श्रेणी में उन कथानकों को रखा जा सकता है जो वैदिक देवताओं के नाम पर लिखे गये हैं। इन तीनों प्रकार के कथानकों में से बहुतों का वर्णन तो निरुक्त में संकेतमात्र, किन्तु बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणियों और उनकी टीकाओं में विस्तारपूर्वक किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः इन सबका मूल पाया जाता है—कहीं-कहीं अलंकार शैली में है तो कहीं-कहीं स्पष्टरूप से मिलता है। महाभारत, भागवत, हरिवंश, मत्स्य, विष्णु तथा वायु पुराण आदि में ये कहानियां अधिक विस्तार से कही गई हैं। परन्तु इन पौराणिक आख्यानों और वंशावलियों का वर्णन विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न ही नहीं, कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी है।

इन कथानकों के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि इन इतिहास नामधारी आख्यानों में बहुत खोजने पर भी कोई एक दो ही ऐसे मिल सकते हैं जो सभ्यता तथा सदाचार की कसौटी पर रखे जासकें। बृहद्देवता आदि उपर्युक्त ग्रन्थों में वर्णित चरित्रों को देखकर आख्यानान्तर्गत ऋषि जीवन को केवल तीन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—काम, कामिनी और क्रोध। किसी भी सुन्दरी को देखकर उस पर आसक्त हो जाना

और फिर बलात्कार तक के लिये उद्यत हो जाना अथवा स्खलित हो जाना साधारण बात है—(बृहद्देवता ५।९७)। इन्द्र जैसे देवता नामधारी महापुरुष भी अपने मित्र को मिलने जाकर और वहां उसकी धर्मपत्नी रोमशा को प्रणाम करते देखकर न उसका कुशलक्षेम पूछते हैं और न उसे आशीर्वाद देते है, बल्कि छूटते ही पूछते हैं—रोमाणि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि (बृहद् ४।२)। च्यवन जैसे सहस्र वर्षों से तपस्या में लगे ऋषि दीमक खाई मिट्टी के ढेर की भांति स्थिर हो जाने पर भी एक अबोध बालिका के अनजाने में कांटा चुभो देने पर, मारे क्रोध के, सारे परिवार और परिजनों को मौत के मुंह में धकेल देते हैं और फिर उसी कन्या के पत्नीरूप में दिये जाने पर शाप वापिस ले लेते हैं—(श्रीमद् भागवत ९।३)। ऋग्वेद ८।१९।३६ के आधार बनाकर लिखे गये बृहद्देवता (६-५८) के आख्यान के अनुसार पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु काण्वपुत्र सोभरि के भीख मांगने पर अपनी ५० कन्यायें एक साथ दान कर देता है। सोभरि कन्याओं की इस पलटन को और दहेज सामग्री को लेकर अपने घर जाता है। घर पहुंच कर वह ऋग्वेद के इसी सूक्त द्वारा त्रसदस्यु की दानस्तुति और बुढ़ापे में एक साथ इतनी स्त्रियां पाजाने के कारण इन्द्र की स्तुति करता है। इन्द्र भी अपनी स्तुति से प्रसन्न होकर सोभरि को वर मांगने को कहता है। तब सोभरि गद्गद् कण्ठ से कह उठता है—

"काकुत्स्थकन्याः पञ्चाशद् युगपद् रमे प्रभो।" बृहद्. ६-५४

इसी प्रकार अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के चरित्र पर इन आख्यानों द्वारा जितने भी कलङ्क पोते गये हैं वे सब पूर्वोक्त तीन सूत्रों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी प्रकार की गाथायें वैदिक देवताओं के नाम पर भी गढ़ी गई हैं। वैदिक युग के ऋषियों के चरित्र से संबन्धित ये कथायें यदि वास्तविक घटनायें होतीं तो अपने अतीत पर गर्व करना तो दूर रहा हम सभ्य संसार के सामने सिर भी न उठा सकते। इनमें से अधिकांश कथाओं को तो वैदिक आख्यान के नाम से भी अभिहित नहीं किया जा सकता। वेदमन्त्रों के अन्तर्गत संज्ञापदों को व्यक्ति अथवा स्थानविशेष का वाचक मान कर जिन आख्यानों की रचना की गई है वही वैदिक आख्यान कहे जासकते हैं।

वेदार्थ प्रक्रिया में समस्त वैदिक नामों=प्रातिपदिकों को धातुज=माना जाता है। इसलिये नैदान और समस्त नैरुक्त आचार्य नामपदों को यौगिक मानते हैं। अति प्राचीन काल में जब यदृच्छा शब्दों की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब समस्त लौकिक नामपद भी यौगिक माने जाते थे। एव वेदमन्त्रों में

आये संज्ञा पद आख्यातज होने से व्यक्ति विशेष के वाचक हो ही नहीं सकते। अतः उनका अर्थ यौगिक अर्थात् धातु के अर्थों के अनुकूल होगा। महाभाष्य-कार पतञ्जलि, कुमारिलभट्ट, शबरस्वामी, स्कन्द, दुर्गाचार्य, वररुचि, भट्टभास्कर, आत्मानन्द आदि सभी आचार्यों ने वैदिक शब्दों को अनिवार्य रूप से यौगिक माना है। यत्र-तत्र उवट, महीधर तथा सायण ने भी यौगिकवाद का आश्रय लिया है। निरुक्त की तो रचना ही यौगिकवाद के पोषण के लिये हुई है। निरुक्त नाम ही निर्वचन का है। **तत्र नामान्याख्यातजानि**—जितने भी नामवाची पद हैं, सब आख्यातज हैं। जब सब नाम आख्यातज हैं तो जिस-जिस धातु से उनकी उत्पत्ति हुई है, उस-उस धातु के अर्थ को तो वे अवश्य कहेंगे। शब्दों की निरुक्तियों को लेकर ही तत्तत् शब्दों का अर्थ होगा। निरुक्त ब्राह्मण ग्रन्थों का पूरक है। जहां कहीं आवश्यक होता है, यास्क अपने अर्थों की पुष्टि के लिये **इति विज्ञायते इति ब्राह्मणम्** इत्यादि कह कर ब्राह्मण वचनों को उद्धृत करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ तो निर्वचनों से भरे पड़े हैं। वे तो हर समय निरुक्त द्वारा शब्दों के अर्थ समझाने की बात करते हैं। **यज्ञो वै विष्णुः, राष्ट्रं वा अश्वमेधः, प्राणो वै वसिष्ठः, मनो वा भरद्वाजः, चक्षुर्वै जमदग्निः, अश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्** इत्यादि वचनों की ब्राह्मणग्रन्थों में भरमार है। इतना ही नहीं, वे प्रत्येक पद के निर्वचन के साथ-साथ उसका स्पष्टीकरण भी करते हैं। जैसे— **श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः।** इस प्रकार वैदिक प्रक्रियानुसार अर्थ होने पर कोई भी शब्द व्यक्ति वा स्थान विशेष का वाचक नहीं रहता।

सुजनतोषन्याय से यदि आख्यानान्तर्गत नामों को इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों का वाचक माना जाये तो उनका इतिहास से सामञ्जस्य होना चाहिये। परन्तु यथार्थ में ऐतिहासिक घटनाओं तथा तथ्यों का वेदमन्त्रों में वर्णित बातों से सामञ्जस्य नहीं होता। यही बात भौगोलिक संकेतों के विषय में भी कही जा सकती है। उदाहरणार्थ—

१—अथर्ववेद (१३-३-२६) में कृष्णायाः पुत्रोऽर्जुनः लिखा है। इसका सीधा अर्थ है—**द्रौपदी का पुत्र अर्जुन।** किन्तु इतिहासप्रसिद्ध अर्जुन द्रौपदी का पुत्र नहीं, पति था। इन पदों के यौगिक अर्थ करते ही बात स्पष्ट हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रात्रिर्वै कृष्णा **असावादित्यो तस्या वत्सोऽर्जुनः**—काली होने से रात्रि का नाम कृष्णा है और श्वेत होने से सूर्य अथवा दिन का नाम अर्जुन है। रात्रि से उत्पन्न होने से सूर्य रात्रि का पुत्र

कहाता है। इस प्रकार यहाँ कृष्णा को महाभारत की द्रौपदी का और अर्जुन को महाभारत के अर्जुन का वाचक नहीं माना जा सकता।

२—यजुर्वेद (२३-१८) में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका तीनों को एक साथ देख कर कह दिया जाता है कि ये तीनों वही लड़कियां है जिन्हें भीष्मपितामह भगा कर लाये थे। परन्तु महाभारत में इन्हें काशिराज की कन्यायें बताया है, जबकि यजुर्वेद के उक्त मन्त्र में उन्हें काम्पीलवासिनी लिखा है। वस्तुतः ये तीनों शब्द माता, दादी और परदादी के वाचक हैं अथवा आयुर्वेद के सन्दर्भ में यजुर्वेद १२।७६ व.३-५७ तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुसार ये औषधि विशेष के नाम हैं।

३–यजुर्वेद का मन्त्र है —

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशेऽभवत्सरित् ॥ यजुः ३४-११

अर्थात् —पांच नदियां अपने स्रोतों सहित सरस्वती में गिरती हैं और वह सरस्वती पांच प्रकार की होकर उस देश में वहती है।

इस मन्त्र में ५ नदियों का उल्लेख होने से, पंजाब अर्थात् प्रदेश-विशेष का वर्णन होना समझ लिया जाता है। परन्तु सभी जानते हैं कि न तो सरस्वती नाम नदी में पंजाब की पांच नदियां गिरती हैं और न सरस्वती ही पांच धाराओं में बंट कर बहती है। मन्त्र में आये नामों को प्रातिपदिक मान कर यौगिक प्रक्रियानुसार मन्त्र का अर्थ करने पर पता चलता है कि उसमें पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा मन की पांच वृत्तियों को स्मृति में ठहराकर वाणी द्वारा अनेकविध अभिव्यक्त होने का उल्लेख है।

४—ऋग्वेद के १-२४ सूक्त के मन्त्रों में शुनःशेप की कथा का संकेत किया जाता है। इस लम्बी चौड़ी कहानी में हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, अजीगर्त आदि अनेक नाम आते हैं, जबकि उक्त मन्त्रों में शुनः शेप शब्द को छोड़कर अन्य किसी नाम का संकेत तक नहीं है।

५—देवापि और शन्तनु के आख्यान को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विवाद है। ऐतिहासिक शन्तनु का सांस्कारिक अथवा मूल नाम '**महाभिष**' था— **प्राङ् महाभिषसंज्ञितः** (भागवत पुराण ९।२२)। शन्तनु नाम उसने वेद से ग्रहण किया। इतिहास प्रसिद्ध देवापि का पिता प्रतीप= पर्यश्रवा है, जबकि वेद के अनुसार ऋष्टिषेण होना चाहिये। इस कठिनाई को देख कर कुछ आचार्यों ने देवापि के गुरु च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण मान लिया और उसी को उसका पिता बना डाला। इस प्रकार कालान्तर में आर्ष्टिषेण देवापि का विशेषण बन गया। कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के १०वें मण्डल

के वर्षकाम सूक्त (६८) का रचयिता देवापि है। यदि ऐसा होता तो देवापि इस सूक्त में शन्तनु के लिये महाभिष और अपने लिये आर्ष्टिषेण के स्थान पर च्यावन पदों का प्रयोग करता। यह भी निश्चित है कि यह सूक्त महाभारतप्रसिद्ध देवापि और शन्तनु से पहले विद्यमान था। फिर, इस मन्त्र का ऋषि भी देवापि है। मन्त्रद्रष्टा देवापि अपना निर्देश प्रथम पुरुष में और भूतकाल में कैसे कर सकता था?

वस्तुतः सूक्त में देवापि और शन्तनु के कुरुवंशीय होने, शन्तनु के राज्य ग्रहण करने, १२ वर्ष तक वर्षा न होने और वर्षा न होने पर ब्राह्मणों के कहने सुनने विषयक कोई भी शब्द नहीं हैं। 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थ-मुपबृंहयेत्' —भगवान् वेदव्यास के इस वचन के अनुसार अपनी बात को रोचक बना कर कहने के लिये तत्रेतिहासमाचक्षते कह बुढ़िया और उसके बेटों की कहानी की तरह एक आख्यायिका की कल्पना कर ली गई। अपनी निरुक्त की टीका में (भाग २ पृष्ठ ७०) स्कन्द-स्वामी ने देवापि के द्वारा पुरोहित के रूप में वर्षा कराने से संबन्धित इस आख्यान की व्याख्या करते हुए लिखा—

> देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्। यद् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्।

अर्थात् यहां देवापि विद्युत् का नाम है और शन्तनु जल का। वृष्टिरूप जल विद्युत् से बरसता है। पहले विद्युत् चमकती है, तब वर्षा होती है, अग्रणी होने से देवापि पुरोहित कहाता है, वृष्टि का अभिप्राय विद्युत् से है, इसकी पुष्टि ऋग्वेद के इन मन्त्रों से होती है—

> आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैं रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। १।८८।१
> को वो अन्तर्मरुत ऋष्टि विद्युतो रेजति। १।१६८।५
> य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः। ५।५२।१३
> विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः। ३।५४।१३

वस्तुतः यह आख्यान नित्य अर्थ का योजक है। इसमें प्राकृतिक जगत् के कारण तथा कार्यरूप तत्त्वों का औपचारिक वा आलंकारिक वर्णन है। यह कहानी उस ऋचा से संबन्धित है जिसका विनियोग वृष्टियज्ञ में होता है। कभी-कभी आवश्यकता होने पर भी वर्षा नहीं होती। या तो बादल आते ही नहीं, या आ-आकर बिना बरसे चले जाते हैं। ऐसी अवस्था में कृत्रिम रूप से वर्षा कराने के उपायों की खोज में वर्तमान विज्ञान भी संलग्न है।

वैज्ञानिक ऐसे परीक्षण कर रहे है कि ऊपर पहुंच कर विमान द्वारा आकाश में कुछ रासायनिक पदार्थ छिड़क कर बादलों को बरसाया जा सके। वेद में यज्ञ की सहायता से वर्षा करने कराने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के इस वृष्टिकाल सूक्त में वैज्ञानिकों द्वारा उत्तर समुद्र अर्थात् आकाश से जल बरसाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में विद्युत् को संबोधित कर कहा गया है कि तुम राक्षसों को अर्थात् वृष्टि में बाधक तत्वों अथवा भौगोलिक कारणों को नष्ट करके प्रचुर जल की वर्षा करो।

इन्द्र तथा वृत्र का युद्ध बड़ा प्रसिद्ध है। इसे प्रायः देवासुर संग्राम के रूप में एक ऐतिहासिक घटना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु जब हम स्मरण करते हैं कि वेद के सभी शब्द यौगिक हैं तो उसकी वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। ऋग्वेद। (१।३२।१) में रूपकालंकार में वर्षाकालीन मेघ और उससे होने वाली वर्षा का वर्णन है। निरुक्त (२-१६) में इन्द्र-वृत्र युद्ध के प्रतिपादक उस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं--

"अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ।"

अर्थात्—मेघस्थ जल के साथ विद्युत् का सम्बन्ध होने से वर्षा होती है। वेद में जो इन्द्र-वृत्र युद्ध का एतद्विषयक वर्णन है वह उपमारूप से है। 'अहि' शब्द वाले मन्त्रों और ब्राह्मणग्रन्थों में वृत्र की तरह अहि को भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा है, और 'अहि' निस्सन्देह मेघवाची है—**अहिरिति मेघनामसु पठितम्** (निघण्टु १।१०)। अतः वृत्र का अर्थ मेघ ही करना होगा, त्वाष्ट्र असुर नहीं। यास्क कहते हैं—

"विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार । तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः ।"

अर्थात्—मेघ शरीर को बढ़ा कर जल के स्रोतों को रोक लेता है। उसके हत अर्थात् नष्ट होने पर जल गिर पड़ते हैं। यही इन्द्र अर्थात् विद्युत् द्वारा वृत्र अर्थात् मेघ का संहार करना है। इसी बात को अगले (१।३२।११) मन्त्र में काव्यात्मक भाषा में इस प्रकार कहा है—

"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥"

मेघ में छिपाया दुष्कालनाशक जल रुका था। तब मेघ को मारते हुए इन्द्र अर्थात् विद्युत् ने जल रोक रखने वाले द्वार को खोल दिया। इस प्रकार विद्युत् रूपी वज्र के प्रहार से आहत अर्थात् छिन्न भिन्न होकर

मेघ अर्थात् वृत्र वृष्टिजल के रूप में धरती पर आ गिरा। 'वृञ् आच्छादने' (उणादि० ४।१६४) तथा वृतु वर्तने या वृधु वृद्धौ (उणादि० २।१३) से वृत्र शब्द सिद्ध होता है। मेघ आकाश का प्राच्छादन करता, चौमासे में वर्त्तमान रहता और फैला रहता है। इसलिये उसकी वृत्र संज्ञा है। वेद में उपमारूप से वर्णित इन्द्र वृत्र युद्ध को कोई प्रसिद्ध देवासुर संग्राम न समझ बैठे, इसलिये इस भ्रान्ति के निवारणार्थ शतपथ ब्राह्मण (११-१-६-६) में स्पष्ट कह दिया—

"नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत्।"

वेद का यह इतिहास कैसा है, इसका स्पष्ट संकेत ऋग्वेद (१।५४।६) पर स्कन्दभाष्य में उद्धृत एक इतिहास से मिलता है—

"अत्रेतिहासमाचक्षते—संग्रामे असुराः सूर्यस्य रथं भङ्क्तुमैच्छन् चापहर्तुम्। तावदिन्द्रो रक्षितवान्।"

यह संग्राम अन्तरिक्ष में हुआ। उसमें सूर्य के रथ और घोड़ों की रक्षा इन्द्र ने की। अर्थात् जब आकाश में बादलों ने घिर कर सूर्य को आवृत कर सूर्य की किरणों को रोकना चाहा तो इन्द्र अर्थात् विद्युत् ने बादलों को छिन्न भिन्न करके उन्हें भगा दिया और इस प्रकार सूर्य के रथ और घोड़ों की रक्षा की।

लोक में इन्द्र और गौतमपत्नी अहल्या के परस्पर व्यभिचार में प्रवृत्त होने और तदनन्तर इन्द्र द्वारा अपनी पुत्री में गर्भाधान करने की कथा भी प्रसिद्ध है। वस्तुतः वेद के सभी शब्द यौगिक हैं—ऐसा न समझना ही सब अनर्थों का मूल है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'धातोः कर्मणः समान०' (अष्टा० ३।१।७) सूत्र के भाष्य में सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात् सारे पदार्थों में चेतनवदुपचार मान कर शृणोत ग्रावाणः यह उदाहरण दिया है। इतना ही नहीं, दामहायनान्ताच्च (अष्टा० ४।१।२५) के भाष्य में तो **अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः** लिख कर सबको स्पष्टतः औपचारिक अथवा आलंकारिक घोषित कर दिया है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने महान् ग्रन्थ तन्त्रवार्तिक में अहल्या विषयक कथा को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनादादित्य एवोच्यते। स चारुणोदयवेलाया-मुषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां चारुणाख्याबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषवदुपचारः। एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रपदवाच्यः सवितैवाहनिलीनमानतया

रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज् जीर्यत्यस्माद् अनेनेवोदितेन "आदित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते न परस्त्रीव्यभिचारात् ॥"

मी० १-३-७, तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ २०७

इस उद्धरण के अन्तिम शब्दों से स्पष्ट है कि यहां व्यभिचार जैसी कोई बात नहीं है। वस्तुतः प्रजापालन करने से आदित्य और परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र ये दोनों प्रजापति और सूर्य के नाम हैं। 'अह' अर्थात् दिन में लय हो जाने = न रहने से रात्रि का नाम अहल्या है। जीर्ण करने वाले को जार कहते हैं। रात्रि (अहल्या) के साथ सूर्य (जार) का संयोग होने से रात्रि का नाश हो जाता है। इसी संयोग के कारण उत्पन्न होने से उषा सूर्य अर्थात् इन्द्र की पुत्री कहाती है। उषाकाल में सूर्य की किरणों के उषा में प्रवेश करने को स्त्री पुरुष के संबन्ध के रूप में मान लिया गया।

इस प्रकार के कथानक अनित्य व्यक्तियों के उपाख्यान प्रतीत होने पर भी वास्तव में नित्य पदार्थों और घटनाओं के ही द्योतक हैं।

महाभारत और भागवत पुराण में दधीचि की हड्डियों से निर्मित वज्र से वृत्रासुर के मारे जाने की आख्यायिका कुछ इस प्रकार है—"वृत्र नामक असुर के अत्याचारों से पीड़ित देवता इन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा जी ने उन्हें बताया कि तपस्वी ऋषि दधीचि यदि अपने शरीर की हड्डियां दे दें तो उन हड्डियों से बने वज्र से वृत्रासुर मर सकता है।" देवगण की प्रार्थना पर दधीचि ने अपना शरीर त्याग दिया और उनकी हड्डियों से निर्मित वज्र से वृत्रासुर मारा गया। इसी से मिलती जुलती आख्यायिका सायण ने दध्यङ् के नाम से उद्धृत की है। दोनों आख्यायिकाओं का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

"इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव ।"

ऋग्० १।८४।१३

इन्द्र के द्वारा वृत्र हनन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यास्क ने 'दृ विदारणे' धातु से इन्द्र शब्द की सिद्धि करते हुए लिखा है—'इरां दृणाति'—जल अर्थात् बादलों को फाड़ने वाले भी अर्थात् विद्युत् की इन्द्र संज्ञा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३-९-६) ने भी इन्द्र का अर्थ 'अशनि' अर्थात् विद्युत् किया है। इन्द्र इस कार्य में सूर्य की चंचल किरणों से सहायता लेता है। 'इरां ददाति' इस दूसरे निर्वचन के द्वारा दुर्गाचार्य ने इन्द्र को वर्षा के द्वारा 'इरा' अर्थात् अन्न का देने वाला बताया है। इन्द्र शब्द जीवात्मा का भी वाचक है जो 'दधीचः अस्त्रभिः'=प्रकाश अर्थात् ज्ञान की किरणों के द्वारा ९९ वृत्रों को नष्ट कर देता है। रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण - ये तीन

उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से ६ बने। ५+५ इन्द्रियों और १ मन इन ११ से काम करने से ११ × ९ = ९९ वृत्र बनते हैं।

पुरूरवा और उर्वशी को लेकर भी अनेक आख्यान रचे गये हैं। पुराणों में उर्वशी को नारायण मुनि की जंघाओं से उत्पन्न बताया है। उरु' को 'ऊरु' मान कर किया गया निर्वचन और उस पर आधारित उर्वशी की उत्पत्ति कथा दोनों अशुद्ध हैं, क्योंकि 'ऊरु' के अर्थ में 'उरु' का प्रयोग कहीं नहीं मिलता है। बृहद्देवता में उपलब्ध वर्णन के अनुसार उर्वशी के दर्शन पर मित्र और वरुण का रेत: कुम्भ में गिरा और मुहूर्तमात्र में अगस्त्य और वसिष्ठ उत्पन्न हो गये। तत्पश्चात् उर्वशी पुरूरवा पर आसक्त हो गई और कालान्तर में उन दोनों से आयु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अश्लील तथा बेहूदी कथा का मूल ऋग्वेद के जिस मन्त्र में बताया जाता है वह इस प्रकार है—

"उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजात:।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवा: पुष्करे त्वाददन्त ॥"

ऋग्० ७।३३।११

यजुर्वेद (१८-३९) में कहा है—सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस:। अर्थात् सूर्य ही गन्धर्व है और उसकी किरणें अप्सरायें हैं। अन्यत्र (यजु: १५।१५।१९) अप्सराओं के नामों का वर्णन करते हुए मेनका और उर्वशी के नामों का भी उल्लेख किया है। ऋग्वेद (१०।९५।१७) में स्पष्ट कहा है—'अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुपशिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठ:।' अर्थात् मैं वसिष्ठ अर्थात् सूर्य अन्तरिक्ष में घूमने वाली उर्वशी को अपने वश में रखूं। आचार्य वररुचि ने निरुक्तसमुच्चय (पृ०७१) में कहा है—'उर्वशी विद्युत् विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् प्रश्नुते दीव्यत इति उर्वशी वर्षाकाले विद्युति।'

इस सबसे स्पष्ट है कि उर्वशी, अन्तरिक्षस्थ पदार्थ है। उधर मित्र और वरुण जल के मूल तत्वों—आक्सीजन और हाइड्रोजन के वाचक हैं जिनके मिलने पर जल की उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद (१।२।७) इसमें प्रमाण है। निघण्टु पठित मित्र और वरुण का अर्थ यास्क ने वायु ही किया है (निरुक्त ६।२।१३)

मित्र और वरुण इन दोनों के मेल से जल की उत्पत्ति होती है और उर्वशी का दर्शन होने अर्थात् विद्युत् के चमकने पर मित्र तथा वरुण वायुओं का रेतस् अर्थात् जल (निघण्टु में 'रेतस्' जलवाची है) गिर पड़ता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को दर्शाने वाला यह मन्त्र है जिसके वास्तविक अर्थ

को न समझ कर एक ऊटपटांग कहानी बना दी गई जिसे मित्र और वरुण ने देखा था वह विद्युत् ही थी, पहले मन्त्र में इसका स्पष्ट उल्लेख इन शब्दों में किया है—

"विद्युत् ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणौ यदपश्यताम् ॥"

फिर जल को संबोधित करके कहा—'अगस्त्यो त्वा विशः आजभार' अर्थात् जिसने तुम्हें मनुष्यों को प्रदान किया वह सूर्य है, क्योंकि सूर्य ही जल को समुद्र से ग्रहण कर आकाश में पहुँचाता है। पुरूरवा के संबन्ध में वररुचि का कथन है—

"पुरूरवा मध्यमस्थानः वाय्वादीनामेकतमः पुरु रौतीति पुरूरवा।"

अर्थात् वर्षाकाल में भयंकर शब्द करने से मेघ का नाम पुरूरवा है। पुरूरवा अर्थात् मेघ तथा उर्वशी अर्थात् विद्युत् से परस्पर संयोग से जब वर्षा होती है तो उससे 'आयु' अर्थात् अन्न की उत्पत्ति होती है। निघण्टु में 'आयु' अन्न के नामों में पढ़ा गया है। अन्यथा भी अन्न आयु अर्थात् जीवन है—अन्नं हि प्राणिनां प्राणः।

ऋग्वेद (१।१७९) के मन्त्रों के आधार पर अगस्त्य और लोपामुद्रा के आख्यान की रचना हुई बताई जाती है। सर्वानुक्रमणीकार का कथन है—

"पूर्वीः षड् जायापत्योर्लोपामुद्राया अगस्त्यस्य च द्विऋचाभ्यां रत्यर्थं संवादं श्रुत्वा अन्तेवासी ब्रह्मचार्यन्त्येवृहत्यादो अपश्यत्।"

अर्थात्—'पूर्वीः' पद से आरम्भ होने वाले सूक्त की छह ऋचायें पति-पत्नी अगस्त्य और लोपामुद्रा का दो-दो ऋचाओं द्वारा मैथुन-विषयक संवाद सुन कर उनके पास रहने वाले ब्रह्मचारी ने अन्तिम दो ऋचाओं का दर्शन पाया।

महाभारत के वन पर्व के ९६ वें से लेकर १०४ वें अध्यायों तक में अगस्त्य की कहानी लिखी है। उसके अनुसार अगस्त्य ने अपने पितरों को प्रसन्न करने के लिये विवाह करने का निश्चय किया। जब उन्हें बहुत ढूंढने पर भी अपने लिये उपयुक्त कन्या नहीं मिली तो उन्होंने स्वयं अपने मन के अनुकूल कन्या की रचना की और पालपोस कर विदर्भ के राजा को देदी। विदर्भ के राजा ने उसका लोपामुद्रा नाम रख कर अगस्त्य के साथ विवाह कर दिया। कहा जाता है कि ऋग्वेद के उक्त मन्त्रों में उन्हीं अगस्त्य और लोपामुद्रा के प्रणय प्रसंग का उल्लेख है।

हो सकता है कि पौराणिक युग में किसी ने अपने पुत्र का नाम अगस्त्य रखा हो। इसी प्रकार किसी राजा ने सीता की भांति अपनी पालिता

कन्या का नाम लोपामुद्रा रख दिया हो और फिर कालान्तर में उनकी विवाह भी हो गया हो। किन्तु इतने से मिलान से इस व्यक्तिगत कथानक को वैदिक सूक्तों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। निरुक्त वचनों से प्रकट होता है कि यास्क युग से पहले ही वैदिक भावनाओं में अर्थविकार होने लग गया था। इस समूचे कथानक में अगस्त्य और लोपामुद्रा इन दो संज्ञापदों को छोड़ कर अन्य किसी भी बात का इस सूक्त के साथ संबन्ध नहीं जुड़ता। न मूल मन्त्रों में कोई ऐसा पद है जिससे प्रजनन का भाव निकलता हो। वैदिक वाङ्मय में 'कामः' शब्द का अर्थ कामवासना, मन्मथ अथवा मैथुनिक भावना करना साहसमात्र होगा। अकेले ऋग्वेद में ६१ बार 'कामः' पद का प्रयोग एकवचन में, १२ बार बहुवचन में और ५ बार कामये, कामयते ऐसे क्रियापद पढ़े गये हैं। किसी एक स्थल पर भी प्रजनन अथवा भोग-वासना का अर्थ नहीं निकलता। यहां इस पद का प्रयोग 'चाहना' के स्वाभाविक अर्थ में किया गया है। इस सूक्त में 'लोपामुद्रा' सामान्य संज्ञापद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द मुद्—रा इन धातुओं के मिलाप से बना है। वर्तमान में मुद्रा शब्द का अर्थ सिक्का, मोहर, छापा, अंगूठी आदि किया जाता है। कहीं-कहीं मुद्रा का अर्थ 'मर्यादा' भी मिलता है, जैसा कि शब्दकल्पद्रुम में 'समुद्र' शब्द का अर्थ करते हुए बताया है। किन्तु अथर्ववेद (१८।३।१६) में पुंल्लिग में प्रयुक्त 'मुद्र' पद से और सुतरां 'मुद्—रा' धातु से भी यही प्रतीत होता है कि जीवन यात्रा में सुख शान्ति पहुँचाने वाले सभी गुणों अथवा पदार्थों को मुद्रा कहा जाता है। जिस अवस्था में सभी पदार्थों का लोप हो जाता हैं, उस विपत्तिकाल की निराश, हताश एवं अधीर अवस्था को 'लोपामुद्रा' पद के प्रयोग से प्रकट किया गया है। यही इसका स्वाभाविक अर्थ है। मन्त्रगत 'अधीरा' पद से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है।

कोशों में सर्वत्र 'अग' शब्द पर्वत, लता वृक्ष, खेती, वनस्पति आदि का वाचक है और 'स्त्यै' धातु एकत्र करने, संभालने आदि अर्थों का वाचक है। इस प्रकार 'अगस्त्य' शब्द का अर्थ परिश्रमी सिद्ध होता है। परिश्रमी व्यक्ति भी जब परिस्थितियों से हार मान जाता है तो उसकी पत्नी उसे ढाढ़स बंधाती है। स्त्री-पुरुष के परस्पर सहयोगी रहते हुए जीवन यात्रा को सफल करने संबन्धी अत्यन्त भावपूर्ण तथा उपदेशप्रद सूक्त को मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़ कर विलास की फुलझड़ी बना कर रख दिया गया। कथानक के रूप में प्रचलित अनर्गल प्रलाप को सिद्ध करने के लिए मन्त्रों में एक भी शब्द नहीं है।

अभी कुछ वर्ष हुए, गुजराती के विख्यात साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी कल्पना के बल पर 'लोपामुद्रा' के नाम से एक बृहदाकार उपन्यास की रचना कर डाली। जितनी भी अश्लील और बेहूदी बातें हो सकती थीं उसमें सब भर दी गईं। भूमिका में लिखा था कि हमने जो कुछ लिखा है, ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर लिखा है। जब उन्हें उन वेदमन्त्रों को उद्धृत करने के लिये लिखा गया तो उन्होंने अपने पत्र दिनांक २ फरवरी १९५० में इन पंक्तियों के लेखक को उत्तर दिया—

"As regards the reference in '*Lopāmudrā*,' I believe the Vedas to have been composed by human beirgs in the early stage of our culture and my attempt in this book has been to create an atmosphere which I have found in the Vedas as translated by Western scholars. I' accepted their View of life and conditions of those days"

उनसे पूछा गया कि पाश्चात्य विद्वानों ने कहां-कहां ये बातें लिखी हैं। साथ ही उन्हें यह भी लिखा गया कि जब आपने अपनी पुस्तक *Creative Art of Life* में लिखा है—"*Westernism has taught us false values and that to understand, recapture and live upto the best in our Culture, it is necessary for a student to discover for himself the Aryan discipline, character and outlook to wrest the secrets of the Vedas.*" तो आप स्वयं अपनी आंखों से न देख कर उनकी आंखों से क्यों देखते है? उन्होंने अपने पत्र दिनांक ३ फ़रवरी १९५१ में लिख दिया—

"*We shall meet and discuss these academic matters when I have time.*"

यदि वैदिक आख्यानों के रचयिताओं से सम्पर्क संभव हो तो वे कुछ इसी प्रकार के उत्तर देंगे। वैदिक आख्यानों की वास्तविकता को जानने के लिये आवश्यक है कि वैदिक शब्दों को यौगिक माना जाये और तदनुसार संज्ञापदों की व्याख्या की जाये। साथ ही वेदों के काव्यात्मक रचना होने के कारण उनके वचनों को प्रकरणानुसार औपचारिक अथवा आलंकारिक मान कर ही उनका अर्थ किया जाये।

चतुर्थ व्याख्यान

वेदों के ऋषि

मनोहर विद्यालङ्कार

आर्य हिन्दु जाति का सबसे प्राचीन और सर्वमान्य ग्रन्थ वेद है। आर्यों की भारतीय परम्परा वेद को अपौरुषेय अर्थात् ईश्वर द्वारा प्रदत्त या निर्मित मानती है। इस दृष्टि से वेद का एक ऋषि है, जिसे ब्रह्म, ब्रह्मा या परमात्मा कह सकते हैं।[1]

सनातन धर्म की विद्वत् परम्परा वेदों को चार मानती है, लेकिन उनकी मान्यता के अनुसार इन वेदों का विभाग कृष्ण द्वैपायन ने किया था, और इन वेदों का विभाग करने के कारण की उनका नाम वेद व्यास पड़ा था। इसके पहिले वेद एक ही था।

परमेश्वर ने वेद ज्ञान ब्रह्मा को दिया। ब्रह्मा के चार मुख थे, उन्होंने एक-एक मुख से एक-एक वेद का प्रसार किया। इस प्रकार एक वेद के चार वेद बन जाने की दूसरी किंवदन्ती है।

स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मा के स्थान पर परमेश्वर को और उनके चार मुखों के स्थान पर अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा नाम से चार ऋषियों को स्वीकार करके अपना सिद्धान्त यह स्थिर किया है कि परमेश्वर द्वारा प्राप्त

---

१ एक: ऋषि:। अथर्ववेद ८-९-२६. ऋषि: श्रेष्ठ: समिध्यसे, यज्ञस्य प्राविता भव। ऋक् ३-२१-३ अहम् कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः, अहं कविरुशना पश्यता मा। ऋक् ४-२६-१. ऋषिकृन्मर्त्यानाम्।
ऋक् १-३१-१६

२ विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वर: महा० आदि ६०-५
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद्व्यास इति स्मृत: आदि ६३-८८
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभि:। आदि० ६२-३५
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् आदि० ६२-५३

ज्ञान का सृष्टि के प्रारम्भ में इन चार ऋषियों ने इन चार वेदों द्वारा प्रचार या प्रसार किया है।[1]

चारों वेदों के वर्तमान काल में उपलब्ध लगभग २० सहस्र मन्त्रों अथवा पुनरुक्त मन्त्रों को निकाल देने पर शेष लगभग १५ सहस्र मन्त्रों के प्रारम्भ में पृथक्-पृथक् ऋषियों का नाम निर्देश है। इस नामनिर्देश के कारण मतभेद प्रारम्भ होता है।

ये कुल ऋषि (३८६ केवल ऋषि और ७१ ऋषि और देवता) ४५७ हैं। देवता ४०५+७१ हैं।

भारतीय परम्परा इन नामों से निर्दिष्ट ऋषियों को इन वेद मन्त्रों के रहस्यार्थ का दर्शन करके, तदनन्तर दूसरे मनुष्यों को इस रहस्यार्थ का दर्शन कराने वाले, द्रष्टा, मानती है।

लेकिन पश्चिम के विद्वान् भारतीय विचार से सहमत नहीं हैं। वे भारतीय परम्परा को पूर्वाग्रह मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार ये वेद मन्त्र भी संसार में प्राप्त अन्य धार्मिक ग्रन्थों की तरह, मनुष्यकृत हैं। उनके अनुसार वेद मन्त्रों के ऊपर दिए हुए नाम वाले ऋषि ही इन मन्त्रों को रचने वाले, इनके रचयिता निर्माता या कर्ता हैं।

इतिहास, भूगोल, भाषा तथा भारत के पर्वत, नदी, राजाओं के नामों का वेद में वर्णन देखकर, वे इसे अनादि तथा अपौरुषेय न मानकर, केवल पाँच सहस्र वर्ष पूर्व निर्मित मन्त्रों (कविताओं) का संग्रह (संहिता) मात्र मानते हैं।

इन विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ने के कारण भारत के आधुनिक विद्वान् भी इसी मत के अनुयायी बनते जा रहे हैं। इस परस्पर विरोधी द्विविधा के कारण ऋषियों के स्वरूप पर विशद विवेचन की आवश्यकता है। और दोनों के प्रस्तुत कर्त्ताओं की युक्तियों तथा प्रमाणों का अवलोकन करना आवश्यक है।

---

१. तेभ्यस्तप्तेभ्यो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः श० का० ११-५-२-३; सायणाचार्य ने भी ऋग्वेद भाष्योपक्रमणिका में अग्नि आदि को जीवविशेष माना है। जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पत्तित्वात्।

ऋषि सम्बन्धी पाश्चात्य मत

पाश्चात्य विद्वान् प्रायः कहा करते हैं कि अपनी पत्नी को रानी कहकर पुकारने से वह रानी नहीं बन जाती। इसी प्रकार भारतीय लोग अपने धर्म-ग्रन्थ वेदों को यदि अनादि और अपौरुषेय मानते हैं तो उनके कहने मात्र से वे वैसे सिद्ध नहीं हो जाते। उन्हें युक्ति और प्रमाण देकर अपने सिद्धान्त को संपुष्ट करना होगा। अन्यथा उनकी मान्यता निरर्थक तथा मूल्यहीन रहेगी। अपने पक्ष की पुष्टि में वे निम्न युक्तियां प्रस्तुत करते हैं—

१. वैदिक ऋषियों में गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ ऋषि बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन ऋषियों या इनके वंशजों ने क्रमशः ऋग्वेद के द्वितीय मंडल से लेकर सप्तम मंडल तक की रचना की है, वेदों में मन्त्रों के ऊपर अंकित ऋषियों तथा भारतीय भाष्यों को देखकर भी यही प्रतीत होता है।[1]

---

१. क—मण्डलद्रष्टा गृत्समद ऋषिः। स च पूर्वम् आङ्गिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञकालेऽसुरैः गृहीत इन्द्रेण मोचितः। पश्चात्तद्वचनेनैव भृगुकुले शुनकपुत्रो गृत्समदनामाभूत्। तथा चानुक्रमणिका। य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्। सायणभाष्य द्वितीयभागे पृष्ठ १

ख—तृतीयमण्डलद्रष्टा विश्वामित्रऋषिः। वही पृ० १७७

ग—वामदैव्ये चतुर्थे मण्डले पञ्चानुवाकाः चतुर्थमण्डलं सम्यक् वामदेवेन वीक्षितम्। वही पृ० ४६२

घ—आत्रेये पञ्चमे मण्डले षडनुवाकाः ... ...
पञ्चमे मण्डलेऽनुक्तगोत्रमात्रेयं विद्यात्। वही पृ० ७१६

ङ—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत्। तृतीयभागे पृष्ठ १

च—सप्तमं मण्डल वसिष्ठोऽपश्यत्। तृतीयभागे पृष्ठ २६३

छ—प्रगाथो दृचमपश्यत्स घोरः सन् भ्रातुः कण्वस्य पुत्रतामगात् प्लायोगिश्चासङ्गोयः स्त्री भूत्वा पुमानभूत्। अतस्तासामंसंगाख्यो राजा ऋषिः। अस्यासङ्गस्य भार्यमसङ्गारसः सुता शश्वत्याख्या भर्तुः पुंस्त्वमुपलभ्य प्रीता सती स्वभर्तारं स्तुतवती। तृतीयभागे पृ० ५१५ (उपरिलिखित सभी सन्दर्भ वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद-सहिता पर आधारित हैं।) डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

२. अष्टम मंडल की रचना काण्व तथा आंगिरस वंश के ऋषियों द्वारा की गई प्रतीत होती है और ऋग्वेद के प्रथम मंडल के २५ तथा दशम मंडल के निर्माता १४२ ऋषि मिलते हैं। नवम मंडल में लगभग ४८ ऋषि हैं, जिनमें मुख्यतया अंगिरस्, भृगु तथा वसिष्ठ वंशी हैं। मनु, ययाति, नहुष आदि कुछ राजाओं के नाम भी इस मण्डल के ऋषियों में सम्मिलित है।

३. ऋषियों में सम्मिलित होने से, ऋषियों के मन्त्रकर्ता मनुष्य होने का पक्ष और पुष्ट होता है, क्योंकि इतिहास में और पुराणों में वंशावलियों तथा राजाओं की सूचियों में इन नामों के आने से इनके काल का निर्णय किया जा सकता है, और तब वेदों को अपौरुषेय अथवा अनादि कहना केवल कल्पना मात्र ही सिद्ध हो जाएगा।

४. आठवें मंडल के २४-२५ सूक्तों का ऋषि वैवस्वत मनु है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार इसी ने भारत में राज्य संस्था का सूत्रपात किया था। इससे पूर्व अराजकता या बर्बरता की स्थिति थी। इसकी पुत्री इला के वंशजों ने प्रतिष्ठानपुर को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। इस इला का वंशज ऐल पुरुरवा राजा ऋग्वेद के १०-९५ का ऋषि है।

मनु के दूसरे पुत्र नाभानेदिष्ठ ने वैशाली में पृथक् राजवंश का प्रारम्भ किया था। इस नाभानेदिष्ठ के वंशज भालन्दन ऋक् ९-६८ तथा वात्सप्रि ऋक् १०-४५-४३ के ऋषि हैं। शान्तनु के भाई देवापि की भी ऋक् १०-९८ में कुछ ऋचाएं मिलती हैं। गृत्समद, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ऋषियों का काल पौराणिक अनुश्रुति में प्राप्त ९४ पीढ़ियों में, २६वीं पीढ़ी से ४०वीं पीढ़ी तक मिलता है।

ऋग्वेद में राजाओं के दान की स्तुति अनेक सूक्तों में दिखाई देती है।

द्वारा लिखित प्राचीन भारतीय इतिहास 'वैदिक युग' पुस्तक के विषय प्रवेश में इसे विस्तार से देखा जा सकता है। नहुष, ययाति, मनु आदि राजाओं की वेद में चर्चा है।

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता। दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां गवां सहस्रा॥ ऋक् ८-४६-२२

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः। ऋक् २-१४-६

तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया।
अथर्व० ८-८-७

५. देवासुर संग्राम अथवा इन्द्र द्वारा वृत्र, शम्बर, चुमुरि, तुग्र आदि असुरों के युद्धों और विनाश का वर्णन है। इनके नगरों के ध्वंस और सेनाओं का विनाश प्रदर्शित करने वाले बहुत से मन्त्र हैं।

६. वैदिक परम्परा के विद्वान् स्वयं कहते हैं कि वेद को समझने के लिए इतिहास पुराण का ज्ञान भी आवश्यक है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

७. वेदों में अनेक नदियों, पर्वतों, जनपदों, जातियों तथा राज्यों के नाम मिलते हैं, जिनके आधार पर वे यह सिद्ध करते हैं कि भारत में आर्यों का कहाँ तक विस्तार हुआ था।

८. ऋग्वेद के ऋषियों में कुछ स्त्रियां भी हैं। इनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। यह विदर्भराज की कन्या तथा अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी। राजा मनु की पत्नी श्रद्धा भी एक ऋषिका है।

९. वेद जिस रूप में आज उपलब्ध हैं; उन्हें संहिता कहते हैं। ऋषि-कुलों में श्रुतिरूप में जो मन्त्र चले आते थे, उन्हें संकलित करके लिखा गया। इन लेखबद्ध ग्रन्थों का नाम ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता रख दिया गया। इससे पूर्व ये चार न थे। गुरुशिष्यपरम्परा तथा पिता-पुत्रपरम्परा द्वारा श्रवण तथा स्मरण के साधन से कायम करने के कारण इन्हें वेद न कहकर, श्रुति कहा जाता था।

इसलिए वेदमन्त्रों में एक स्थान पर 'श्रुतिर्मही' आया है। ऋक्, यजुः, साम, शब्द भी वेद में हैं। लेकिन इनके साथ वेद शब्द का एक स्थान पर भी प्रयोग न मिलने से यह लगता है कि इनका नाम वेद बहुत देर बाद संहिता रूप में वर्गीकृत होने के बाद ही पड़ा था।[1]

१०. स्वयं वेद के भाष्यकार जब स्वीकार करते हैं कि स्वयंभू ब्रह्मा ने जो वेद सृष्टि के आदि में ज्ञान रूप से दिए थे, वे युग की समाप्ति पर विस्मृति के गर्भ में लुप्त हो गए थे। उन वेदों को इतिहास मिश्रित रूप में महर्षियों ने अपने तप से अथवा ज्ञान की ऊहापोहरूपी तपस्या से पुनः प्राप्त किया।[2]

---

१. श्रुतिर्मही उच्छिष्टे। अथर्व ११-७-२०
२. स श्रान्तस्तपन् ब्रह्मैव प्रथममसृजत्। त्रयीमेव विद्याम्।—शतपथ

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः ।
लेभिरे तपसापूर्वमनुसाता स्वयम्भुवा ॥

—ऋग्वेदभाष्यभूमिका, सायरण ।

इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में प्राप्त वेद ऋषियों द्वारा निर्मित हैं। ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता हैं और इनमें इतिहास विद्यमान है।

११. जैमिनि ऋषि कृत ऋगादि शब्दों की परिभाषा से प्रतीत होता है कि छन्दोबद्ध रचना ऋक्, गीति के निमित्त प्रयुक्त छन्द साम तथा शेष अर्थात् गद्य-रचना यजुः कहलाती है। इस लक्षण से सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में वेद एक ही था। उसमें तीन प्रकार की रचना होने से भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्त्रों के पृथक्-पृथक् नाम रख दिए गए हैं। इसलिए इसे त्रयी भी कहते हैं। त्रयी शब्द के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन रचना है।

तेषाम् ऋग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।
गीतिषु सामाख्या शेषे यजुःशब्दः ॥

जै० सूत्र १-२-३५.३६.३७

१२. तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण से प्रतीत होता है कि उसका कर्त्ता भी यजुः और साम की अपेक्षा ऋग्वेद को अधिक महत्त्व देता है। और अथर्ववेद का उल्लेख ही नहीं करता।

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा वा क्रियते शिथिलं तद्,
यदृचा तद् दृढम् ॥ तै० सं० ६-५-१०-३ ।

ऋषिसम्बन्धी भारतीय परम्परा

वेद के सम्बन्ध में भारतीय विद्वत्परम्परा द्वारा सर्वसम्मत मत यह है कि वेद ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा द्वारा दिया गया था। यह वेद स्वतः प्रमाण है, क्योंकि नित्य सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान रूप होने से स्वयं भी नित्य तथा निर्भ्रान्त है।[1]

---

१. यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । यजु० ३४-५
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ यजु० ३१-७

ऋषि इन मन्त्रों के कर्ता नहीं, द्रष्टा हैं। अर्थात् स्वयं इनके अर्थ और रहस्य का दर्शन करके दूसरे मनुष्यों को इनके अर्थ और रहस्य का दर्शन कराते हैं।

जो व्यक्ति विद्वान् संयमी व जगत्कल्याणकर्ता बनकर वेदार्थ का दूसरों के लिये प्रकाश करता है, उस मन्त्र को उस ऋषि का मन्त्र कहते हैं। वास्तव में वह उस ऋषि द्वारा प्रोक्त उस वेदमन्त्र का व्याख्यान होता है, वह मन्त्र नहीं।[1]

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० १०-७-२०

यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपाः अथर्व० ४-३५-६; ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषां सह उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।

अथर्व० ११-७-२०

ख. स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योग दर्शन १-१-२६
वह परमेश्वर कालातीत होने के कारण सबका, पुराने ऋषियों का भी उपदेष्टा गुरु है।

ग. शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्मसूत्र १-१-३ अत एव च नित्यत्वम्।

ब्रह्मसूत्र १३-२६

अतएव ईश्वरोक्तत्वान्नित्यं धर्मकत्वात्—'वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यम्।

घ. भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति। बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। मनुस्मृति १२-९७ तथा ९९

ङ. ऋषिरीश्वरः सर्वदृक्—ऋक् भाष्य में स्वामी दयानन्द ने सर्वज्ञ परमेश्वर को ही वेद का ऋषि स्वीकार किया है।

च. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिक १-१-३

छ. मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।

न्यायदर्शन २.१.६७

१. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः
साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ता यैः सर्वा विद्या यथावद्विदिता, येऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् मन्त्रार्थांश्च सम्प्रादुः प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाताः। निरुक्त (भाष्यसहित) १-२०

२. वेद मनुष्यों द्वारा नहीं बनाए गए। ये अपौरुषेय हैं। इसलिये इनका ज्ञान पूर्ण तथा सत्य है। ऋषि मन्त्रों के कर्ता न होकर उनका मनन द्वारा साक्षात् करने वाले द्रष्टा हैं। स्वयं साक्षात्कार करने के उपरान्त दूसरों को ज्ञान देते हैं और इस प्रकार वेद की ज्ञान-परम्परा अनन्तकाल से चली आ रही है और अनन्त काल तक चलती चली जायेगी। प्रलय होने पर भी यद्यपि ये पुस्तकें या मन्त्र लुप्त हो जाते हैं लेकिन ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण यह ज्ञान ईश्वर में बना ही रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः ऋषियों के अन्तःकरण में स्फुरण द्वारा प्रकट हो जाता है। और ऋषि इस वेदज्ञान को पुनः प्रवर्तित कर देते हैं।

३. वेद के अध्ययन के सम्बन्ध में यह भी परम्परा है कि वेदों का स्वाध्याय, पारायण व यज्ञ करते हुए, ऋषि और देवता तथा छन्द को जानना आवश्यक माना गया है। इनका ज्ञान हुए बिना वेदार्थ रहस्य का यथार्थ ज्ञान संभव नहीं। इस बात पर जोर देने के लिए यहां तक कह दिया है कि ऋषि देवता छन्द का ज्ञान हुए बिना वेद पारायण, याग या अध्यापन करने वाला ठूंठ है या गढ्ढे में गिरता है या पापी हो जाता है या मर जाता है।[1]

४. मनुष्यकृत ग्रन्थों में परिश्रम करने के वजाय ऋषि-दृष्ट ग्रन्थों के अध्ययन करने पर बल दिया गया है क्योंकि मनुष्यकृत ग्रन्थों में जो बात बड़े विस्तार से कही जाती है, वही बात ऋषि-निर्मित ग्रन्थों में सूत्र रूप में या मंत्र रूप में बड़े संक्षेप से कह दी जाती है। स्मृति

यःकश्चिद् अनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति वेदार्थं प्रकाशयते तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। ऋ० द० येन येन-र्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैक-मन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति।

ऋक् भाष्य भूमिका स्वामी द० पृ० ३८६

१. अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव वा। योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः। यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यात्।

आर्ष ब्राह्मण १.१

कार मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में, वेद को न पढ़कर अन्य ग्रन्थों पर श्रम करने वाले ब्राह्मण को शूद्र माना है।[1]

स्वयं वेद कहता है कि मनुष्यकृत ग्रन्थों तथा उपदेशों से दूर रहो, क्योंकि उनसे तुम विचार की उलझन में फंस जाओगे। इसे सत्य मानें या उसे सत्य स्वीकार करें—की द्विविधा उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए प्रलोभन और भय से कभी विचलित न होने वाला तथा संशय में कभी न फंसने वाला ऋषि अथर्वा कहता है कि देव पुत्र ऋषियों के वचनों को स्वीकार करके, अपने मित्रों व साथियों सहित, उनसे प्रदर्शित नीतियों पर अपने जीवन को चलाते जाओ।[2]

ऋषियों की कल्याण-भावना की तीव्रता को प्रदर्शित करने वाले उत्तररामचरित के शब्द स्मरणीय हैं।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।

भारतीय विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों के दोनों पक्षों को देख लेने के बाद निर्णय करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि ऋषि शब्द के वेद में क्या-क्या अर्थ किए गए हैं? वेद में ऋषि शब्द किस-किस प्रकार के व्यक्तियों या पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है? इस उद्देश्य से वेद का पारायण करके, वेद को वेद से जानने की प्रक्रिया द्वारा किसी पक्ष को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए।

वेदों में ऋषि शब्द के प्रयोगों के अध्ययन द्वारा अर्थ का निर्णय

१—ऋषि परमात्मा :-

क. अग्नि ही जगत् में प्राण का संचार करने वाला प्रथम ऋषि तथा दिव्य गुण धारण करने वालों में दिव्य तथा कल्याण करने वाला

---

१. नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्। बृ० ३०४.४.२५
योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः। मनु २।१६८

२. अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः। प्रणीतीरभ्यावर्तस्व, विश्वेभिः सखिभिः सह ऋषिः अथवा देवता—दैव्यं वचः।
अथर्व० ७.१०५.१
अथर्वा—थर्वतिश्चरतिकर्मा। तत्प्रतिषेध…चर संशये। चर गति-भक्षणयोश्च। भद्रमिच्छन्तः ऋषयः अथर्व० १६.४१.१

सखा है। अग्नि ही विधि (कानून) तथा मानव विधान का निर्माता ऋषि है। इसलिए मानवी प्रजाएं उसका पूजन करती हैं।[1]

ख. ऐश्वर्यशालिन् प्रभो आप ही सबसे धीर तथा श्रेष्ठ एक मात्र ऋषि हैं। इसलिये प्राचीन तथा नवीन ऋषि आपका ध्यान तथा स्तुति करते हैं।[2]

ग. आप ही मनुष्यों में से कर्मानुसार श्रेष्ठ विद्वान् विप्रों को ऋषि बना देते हैं।[3]

घ. आप स्वयं अपने को सृष्टिकाव्य का कवि उशना, जगत् में प्राणसंचार करने वाला सूर्य, मनन प्रस्तोता मनु ऋषि बनाकर अपने दर्शन की प्रेरणा करते है।[4]

ङ. सारे विश्व के स्वामी, विश्व का निर्माण संहार करने वाले पिता, देवों में ब्रह्मा तथा गृध्रों में बाज के समान सबसे बड़े ऋषि आप ही हो।[5]

---

१. अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः। अग्निं होतारमीळते यज्ञेषु मनुषो विशः॥ ऋक् ६.१४.२
त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवसखा। ऋक् १.३१.२
ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे। यज्ञस्य प्राविता भव। ऋक् ३.२१.३
एकः ऋषिः। अथर्व ८.६.२६

२. अर्चन्ति त्वा मरुतः पूतदक्षा, त्वमृषिरिन्द्रासि धीरः। ऋक् ५.२९.१
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्। ऋक् ४.५०.१
वि यो ररप्शे ऋषिभिर्नवेभिः—ऋक् ४.२०.५

३. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। ऋक् १०.१२५.५
ऋषिकृन्मर्त्यानाम्। ऋक् १.३१.२६। य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवी कवीनाम्। ऋक् ९.९६.१८

४. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ ऋक् ४.२६.१

५. ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। ऋक् ८.६.४१; य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यसीदत्पिता नः॥ ऋक् १०.८१.१ ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्। ऋक् ९.९६.६

इन सब वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां वर्णित ऋषि परमात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता।[1]

२. ऋषि-आत्मा-प्राण-इन्द्रिय

कर्म सिद्धान्त विवेचक ऋक् १०-३० में ऋषि शब्द अन्तरात्मन् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋषि शब्द का अर्थ प्राण तथा इन्द्रिय अनेक स्थलों पर भाष्यकारों ने किया है। ये इन्द्रियाँ जिस मन की सहायता से अपना सामर्थ्य प्रकट कर पाती हैं वह मन हमें पापमुक्त करे। क्योंकि इन्द्रियों का दमन करके मन उनका ध्यान करने वाला तो मिथ्याचार बन जाता।

ऋषियों का स्वरूप भेद

ऋषियों की पूरी सूची पर विचार करने से कई बातें ध्यान में आती हैं, जिनसे ऋषियों के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।

१. ऋषियों में शिशु, वत्स, कुमार, प्रजावान्, सप्तगु का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि ऋषि बनने के लिये आयु का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किसी आयु का पुरुष अपने कार्यों या गुणों से ऋषि बन सकता है।

   इनमें सप्तगुः आंगिरस है। सप्तगु वह है जो स्वस्थ रहते हुए सातवें दशक में पहुंच गया है। वेद में आंगिरस नवग्व और दशग्व की भी चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि नवें तथा दसवें दशक में पहूँच कर भी स्वस्थ रहने वाले नवग्व तथा दशग्व ऋषि माने जाते हैं। किन्तु ऋषि सूचि में नवग्व तथा दशग्व की गणना नहीं है।

२. किसी विशेष कामना को लेकर साधना करने वाले भी ऋषि बन सकते हैं। यथा—मेधाकामः, अनृणकामः, वृषकामः आदि।

३. किसी क्रिया में विशेषता प्राप्त करने के कारण अथवा किसी वृत्ति को स्वीकार करने के कारण भी ऋषियों के नाम पड़ जाते हैं।

---

१. ऋषेर्जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः।
ऋक् १०.३०.१०.
अहमिन्द्रो न पराजिग्य इत्। ऋक् १०.४८.५, त्वम् ऋषिरिन्द्रासि धीरः—ऋक् ५.१९.१; येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा—स नो मुंचत्वंहसः। अथर्व ४.२३.५
सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ। यजुः ३४-५५

यथा—प्रयोग, दमन, उरुचक्रि; तापस, दृढच्युत, प्रमोचन, जय, जेता इध्मवाह, भिक्षु, कुसीदी, वसुमना, इत्यादि ।

४. शारीरिक अवस्था के कारण भी ऋषियों के नाम पड़ जाते हैं । यथा—कृश, कृष्ण, पृथु, दक्ष, ध्रुव आदि ।

५. बाह्य चिह्नों के कारण ऊर्ध्वसद्म, ऋज्राश्व, तृणपाणि कक्षीवान् प्रभू वसु आदि नाम प्रसिद्ध हो जाते हैं ।

६. कभी-कभी आचार व्यवहार के कारण ऋषि—बन्धु, धरुण, पवित्र, अनानत, सत्यश्रवा, सदापृण, सद्म, आदि नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं ।

७. विशेष गुणों के कारण भी ऋषियों के नाम प्रसिद्ध हो जाते हैं । बृहन्मति, कृतयशा, कवि, कश्यप, शिवसंकल्प, गृत्समद, कुरुमति, कुरुस्तुति, त्रिशोक; गोतम, गविष्ठिर इत्यादि ।

८. कभी कभी उपमा तथा स्थान की दृष्टि से नामकरण हुआ प्रतीत होता है । यथा—शशकर्ण, पौर, पर्वत आदि ।

ऋषि कोई जाति नहीं है । अपने विशेष गुणों के कारण कोई भी मनुष्य ऋषि बन सकता है । कुछ लोग अपने महान् कर्मों द्वारा ऋषि बन जाते हैं । कुछ अपनी विशिष्ट सूझबूझ या दीर्घदृष्टि के द्वारा ऋषि बन जाते हैं ।[1]

लेकिन यह निश्चित है कि वे घोर (दृढसंकल्प) अवश्य होते हैं, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में बड़ी धीरता से लगे रहते हैं ।[2]

ऋषि बनने के लिए किसी धर्म विशेष को मानने की आवश्यकता नहीं है । आप किसी भी धर्म को मानने वाले हों, और चाहे किसी भी धर्म में, यहाँ तक कि परमात्मा की स्तुति में भी विश्वास न रखते हों, तो भी आप ऋषि बन सकते हैं ।[3]

ऋषि हमारे पूर्वज होते रहे हैं, हमारे युग के धीर मनीषी; स्वार्थ रहित

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति । ऋक् १०-४७-३

१. विप्रा ऋषयो नृचक्षसः—ऋक् ३.५३.१०
एहागमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः । ऋक् १०.१०८.८
नवग्वासः सुतसोमास इन्द्रं दशग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः । ऋक् ५.२९.१२
महान् ऋषिर्देवजा देवजूतो अस्तभ्नात्—ऋक् ३.५३.९ ऋषिर्विप्रो विचक्षणः (ऋक् ९.१०७.७); विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवर्पसः ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्ने परिजज्ञिरे । ऋक् १०.६२.५

२. घोरा ऋषयः । अथर्व २.३५.४

३. ये त्वामिन्द्रं न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः—ऋक् ८.६.१२

परोपकारी विद्वान् तथा कर्मयोगी लोग भी नए ऋषि है। और इन्हीं गुणों के कारण भविष्य में भी हमारे वंशज ऋषि बनते रहेंगे।[1]

ये ऋषि किन्हीं विशिष्ट (दिव्य) गुणों या कर्मों के कारण ऋषित्व को प्राप्त करने वाले देवपुत्र या देवज कहलाते हैं। इन देवज ऋषियों में से ही कोई कोई महान् पद को प्राप्त करके महर्षि बन जाते हैं।[2]

जो ऋषि ज्ञान (ब्रह्म) के कार्य करते हैं, हृदय से निकलते हुए मन्त्रों का शंसन या स्तवन करते हैं, वे ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। और बल के कार्य करने वाले, इन्द्र (देवों का राजा होने से) राजर्षि कहलाते हैं।[3]

ऋषि कौन ?

वास्तव में किसी कमी या अभाव को दूर करने के कारण ये विप्र लोग, अथवा किसी अनुद्घाटित सत्य को अपनी दूर दृष्टि से देख लेने के कारण विचक्षण, नृचक्षस लोग ही ऋषि बन जाते हैं। ऋषि बनाने में दूसरों के लिए कल्याण करने की इच्छा तथा दूसरों को सुख पहुंचाने के कार्य इनके सहायक होते हैं। संक्षेप में जो मानवमात्र का हित चाहता और करता है, वह ऋषि है।[4]

वेद मन्त्रों के ऊपर लिखे हुए ऋषियों में से बहुत से ऋषियों के नाम वेद मन्त्रों में आए हैं।[5]

---

१. इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। ऋक् १०.१४.१५; तं प्रत्नास ऋषयो दीध्याना—ऋक् ४.५०.१

२. देवपुत्रा ऋषयः। ऋक् १०.६१.४; प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। ऋक् ४.७३.१
अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजिदुद्भित्सोमः ऋषिर्विप्रः काव्येन। ऋक् ८.७९.१

३. इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्र पुरू पुरुहूतः महान् महीभिः शचीभिः। ऋक् ८.१६.७

४. ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः। ऋक् १०.८१.१ भद्रमिच्छन्त ऋषयः ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजान्। ऋक् १०.१५४.५ तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः—यः प्रथमो दक्षिणया रराध। ऋक् १०.१०७.६

५. कण्वः कक्षीवान्पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्व सोभर्यर्चनानाः। विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥ अथर्व १८.३.१५
शदिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुशंसासः पितरो मृडता नः। अथर्व १८.३.१६
अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः ऋक् १०.४९.८

इन ऋषियों के सम्बन्ध में हमारे पूर्वज और पितर शब्दों का प्रयोग हुआ है। पुराने और नए ऋषियों का उल्लेख है।[1]

इन ऋषियों के पुत्रों, पिताओं, गोत्रों का वर्णन भी मिलता है।[2]

ऋषियों की और राजाओं की पदवी समान सी प्रतीत होती है।[3]

मंत्रों में राजाओं और जनपदों के नाम आए हैं।[4]

इस प्रकार वेद की अन्तः साक्षी को आधार बनाकर परिणाम निकालते समय संस्कारों और दृष्टिकोण का भेद होने से एकदम विपरीत परिणाम निकाले जा सकते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के संस्कार और दृष्टिकोण उन्हें बाध्य करते हैं कि वे वेद के ऋषियों को द्रष्टा के स्थान पर कर्ता मानें। और यदि हम भी निष्पक्ष रहें तो हमें यह अधिकार नहीं है कि हम उनकी स्थापना को दुष्ट अभिप्राय से प्रेरित अथवा वेदों को हीन सिद्ध करने का पूर्वाग्रह मानें। उनके सिद्धान्त उनके चिन्तन और मनन के स्वाभाविक परिणाम हैं। प्रथम दृष्टि में अपक्व बुद्धि नये स्नातक को भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इसलिए पाश्चात्य तथा

---

१. इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ऋक् १०.१४.१५; अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयः—ऋक् ४.४२.८; मा मघोनः परि ख्यतं मो अस्माकमृषीणां गोपीथेन उरुष्यतम् (ऋक् ५.६५.६); अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। ऋक् १.१.२; ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्नाः। ऋक् ८.२२.९ तं प्रत्नासः ऋषयो दीध्यानाः ऋक् ४.५०.१

२. तमु त्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। ऋक् ६.१६.१४ पुरा नूनं च स्तुतयऋषीणां पस्पृध्र इन्द्रे अध्युक्थार्का। ऋ. ६.३४.१ पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ऋक् ८.९.८; देवान् वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे ऋक् १०.६६.१५; वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत ऋक् १०.६६.१४ अहं कुत्समार्जुनेयम् ऋक् ४-२६ १; ते अङ्गिरसा सूनवस्ते अग्ने परिजज्ञिरे ऋक् १०.६२.५

३. न स जीयते मरुतो न हन्यते, न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
नास्य राय उपदस्यन्ति नोतयो ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथः।
ऋक् ५-५४-७

४. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु। ऋक् ३.५३.२४; यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृणानः अदीधेत्। ऋक् १०.९८.७
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्रसुदासमावतं तृत्सुभिः सह। ऋक् ७.८३.६
दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।
ऋक् ७-८३.७

उनका अनुकरण करने वाले पूर्व के विद्वानों को भी एकदम या पूर्णतः अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण पर भी विचार की आवश्यकता है। हमें तो यही सोचकर चलना होगा कि यह मंत्रों की ऋषिकर्तृक मानने वाला सिद्धान्त सत्य भी हो सकता है और अप्रामाणिक तथा असिद्ध भी हो सकता है।

उत्तर भाग

वेद में आए हुए ऋषि शब्द वाले प्रत्येक प्रकरण को एकत्रित करके, प्राचीन तथा अर्वाचीन और पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों के अर्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि शब्द का अर्थ कोई एक पदार्थ नहीं है। अपितु वेद में जिस प्रकार ब्रह्म शब्द परमात्मा, पुरुष और प्रकृति तीनों के लिये प्रयुक्त है, अथवा आत्मा शब्द परमात्मा, जीवात्मा, शरीर मन तथा इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार ऋषि शब्द भी परमात्मा, जीवात्मा, इन्द्रियों, प्राणों, किरणों, ऋतुओं, विशिष्ट विद्वानों, जीवन के पथप्रदर्शकों, अतीन्द्रियार्थ को देखने वाले कवियों मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषियों, वेद ज्ञान के मंत्रों को प्रकट वाणी का रूप देने वाले मंत्रकर्ता ऋषियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। इसलिए केवल वेद की अन्तः साक्षी के द्वारा किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता। यदि हम किसी एक ही पदार्थ को इसका अर्थ मानेंगे तो यथार्थ तक कभी न पहुंच पाएगें।

ऋषियों को मंत्रार्थ द्रष्टा मानने वाले विद्वान्, इन ऋषियों को मंत्रकर्ता मानने वाले विद्वानों को एकदम अशुद्ध तथा दुष्ट अभिप्राय प्रेरित और अप्रामाणिक मानते हैं। तथा ऋषियों के कर्तृत्व को मानने वाले विद्वान् दूसरे पक्ष को काल्पनिक, अपने मुंह मिया मिट्ठू कहकर हंसी उड़ाते हैं। दोनों पक्षों पर विचार करके इनमें समस्वरता (ताल मेल) उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

परमेश्वर की स्तुति करने न करने का ऋषि होने से कोई सम्बन्ध नहीं। जडप्रकृतिवादी भी ऋषि हो सकता है। और परम चैतन्य को स्वीकार करने वाला भी ऋषि हो सकता है। ऋषि प्राचीनकाल में होते रहे हैं, वर्तमान काल में हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

वेद की शैली के अनुसार किसी भी दिव्य गुण को धारण करने वाले किसी भी क्षेत्र में मार्गदर्शन करने वाले, मानव का कल्याण करने की इच्छा

वाले, किसी भी ऐश्वर्य या वैशिष्टच से सम्पन्न व्यक्ति ऋषि कहलाने के अधिकारी हैं।

कोई भी मनुष्य उग्र तप के द्वारा, अपनी साधना को सिद्ध कर लेने वाला, अभावग्रस्त प्राणियों के अभावों को निःस्वार्थ तथा निष्काम होकर पूरा करने वाला, कष्ट तथा अत्याचार के समय पीड़ितों का पथ प्रदर्शन करने वाला ऋषि बन सकता है।

ऋषि

ये ऋषि चाहे मंत्रद्रष्टा हों, चाहे मंत्रकर्ता हों, किन्तु यह निश्चित है कि इनमें यह ऋषित्व उस परमात्मा की कृपा से प्रकट होता है। उस परमात्मा की कृपा या सहायता से ही ये ऋषि अपने सामर्थ्य को प्रकट कर पाते हैं।[1] ये ऋषि तप करने के बाद ही अपने अन्दर परमेश्वर (अग्नि) को प्रकाशित करते है। फिर उस प्रकाश और आनन्द से पूरित हुए सत्यज्ञान को प्राप्त करते हैं।[2] इन ऋषियों में ऋषित्व की रक्षा करने वाला वही परमात्मा सच्चा ऋषि है।[3] और जब जिस पर कृपालु होता है उसे ब्रह्म-वेद का ज्ञाता ब्राह्मण तथा अतीन्द्रियार्थ द्रष्टा ऋषि बना देता है।[4]

इन उग्र तपस्वियों-ऋषियों को हमारा नमस्कार है, जो मन के सत्य को स्वयं देखते हैं और फिर दूसरों को दिखाते हैं।[5]

आत्मा और शरीर के योग से पुरुष बनता है। केवल आत्मा या केवल शरीर को मनुष्य नहीं कह सकते। एकाकी आत्मा शरीर की अंगभूत जिह्वा की सहायता के बिना बोल नहीं सकता।

इसी प्रकार परमात्मा और जगत् के सम्मिलित रूप को ईश्वर कहते हैं। परमात्मा या शुद्ध ब्रह्म भी ईश्वर का रूप धारण करके, ऋषि या देव रूपी

---

१. येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा, स नो मुञ्चत्वंहसः। अथर्व ४.२३.५

२. येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्, इन्धाना अग्नि स्वरामरन्तः॥
यजुः ४५-४९

३. त्वामद्य ऋष आर्षेयं ऋषीणां न पाद अवृणीतायं यजमानः॥
यजुः २१-६१

४. यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं कृणोमि तं सुमेधाम्॥
ऋक् १०.१२५.५

५. घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यः चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्॥
अथर्व २.३५.४

जिह्वा की सहायता से ही वेदवाणी या मन्त्रों को मानव मात्र के लिए प्रकट करता है।[1]

वेद मन्त्र तो ऋषियों द्वारा प्रकट होते हैं, परन्तु वेद-ज्ञान परमात्मा से ऋषियों की आत्मा में संक्रमित होता है। इस संक्रमण के लिए वाणी की आवश्यकता नहीं होती।[2] यह बात निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगी।

१. बहुत बार स्वप्न में हमें जटिल समस्याओं तथा दुरूह प्रश्नों का सही समाधान मिलता है। कई बार किसी शब्द का विशेष अर्थ स्फुरित होता है। वहाँ कोई बोलने वाला नहीं होता फिर भी हमें शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है।

२. 'मनीषी की लोकयात्रा' में स्वर्गीय आचार्य कविराज गोपीनाथ ने एक साधु की घटना दी है। वह साधु महाभाष्य पढ़ने का उत्कट अभिलाषी था। और डाक्टर झा महोदय, पढ़ाने के स्थान पर प्रतिदिन टाल देते थे। एक रात वह बड़ी ग्लानि अनुभव करते करते सो गया। स्वप्न में उसे एक ज्योतिर्मय पुरुष ने दर्शन दिये, सान्त्वना दी। उनकी इच्छा जानकर उससे महाभाष्य मंगवाया, अज्ञात स्थल निकलवाए और कहा, अब तुम्हें महाभाष्य में कोई समस्या या उलझन नहीं आयेगी। प्रातः उठने पर जब उसने महाभाष्य खोला तो उसे लगा कि सम्पूर्ण महाभाष्य उसे स्पष्ट है, कोई शंका नहीं है, कोई स्थल अज्ञात नहीं है।

३. श्री अरविंद ने, 'योग साधना' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसके लेखक का नाम उत्तरयोगी लिखा है। पूछने पर उन्होंने बताया कि इस पुस्तक के विचार मेरे नहीं हैं। ऋषिकेश यात्रा में मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि कोई बड़ी दाढ़ी वाला ऋषि तुल्य व्यक्ति मेरे हृदय में प्रेरणा करता था। ये मेरे शब्द नहीं हैं, मैंने कभी इस प्रकार से विचार ही नहीं किया।

४. कई बार लोग महात्माओं के पास मन में कुछ प्रश्न लेकर जाते हैं। किन्तु वहां पहुँचकर उन प्रश्नों का समाधान जानने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। ऐसा लगता है कि इसका उत्तर तो मिल गया है। अथवा इतने तुच्छ प्रश्न को पूछने का क्या लाभ है। इस प्रसंग में श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा स्वामी विवेकानन्द को बार बार एक प्रश्न पूछने

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगदर्शन १-२४
२. गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।।

के लिए काली माता के सम्मुख भेजने और उनका वह प्रश्न बिना पूछे वापस आ जाने वाली घटना विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

५. समाधि के सप्त द्वार (सेवेन पोर्टल्स ऑफ़ समाधि) मैडम ब्लॉवेट्स्की द्वारा लिखित असाधारण पुस्तक है । इसे कुरान, बाइबिल और बुद्ध वचनों के समकक्ष माना जाता है : इसके सम्बन्ध में स्वयं उसने कहा है कि—

यह जो मैं कह रही हूं यह मुझे आकाश-संहिता से उपलब्ध हुआ है । इसे मैंने आकाश से पाया और जाना है ।

इस पुस्तक के बारे में उसने कहा है कि जब मैं 'तुलकू'* की हालत में होती हूँ, तब मुझ से कोई लिखवाता है । कोई सद्गुरु लिखवाता है; मैं नहीं लिखती । मुझ में कोई आविष्ट हो जाता है—और तब लिखना शुरू हो जाता है । तब मैं अपने वश में नहीं होती, मैं सिर्फ वाहन होती हूँ ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बिना बोले और बिना सुने भी ज्ञान एक आत्मा से दूसरे आत्मा में संक्रमित होता है । इसी प्रकार परमेश्वर का वेद-रूपी ज्ञान प्रारम्भिक ऋषियों या देवों के हृदय में संक्रमित, स्फुरित या प्रकाशित हुआ था ।

मन्त्रों में निहित ज्ञान

ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा में रहता है । आत्मा ही ज्ञाता या द्रष्टा है, इन्द्रियां नहीं । इन्द्रियाँ साधन हैं । इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा बोल नहीं सकती ।

वेद-ज्ञान परमात्मा में रहता है । परमात्मा त्रिकाल सत्य है । काल द्वारा अवच्छिन्न (परिमित) न होने के कारण, इन गुरुरूपी ऋषियों का भी गुरु है । उसका ज्ञान अनादि अनन्त है । परमात्मा और उसके ज्ञान (वेद) दोनों का ही नाम ब्रह्म है । इसलिए वेदज्ञान सदा अपौरुषेय अर्थात् मनुष्यकृत या ऋषिकृत न होकर परमात्मा द्वारा प्रदत्त है ।

मनुष्य जब बोलता है, मुख में बैठी हुई वाणी से बोलता है । इसलिये गूंगा आदमी मुख होते हुए नहीं बोल पाता है। अशरीरी आत्मा भी नहीं बोल पाता ।

---

*तुलकू—उस पात्र को कहते हैं जिस पर कोई अदृश्य आत्मा आविष्ट होकर उससे कुछ लिखवाए या बुलवाए ।

जैसे मनुष्य वाणी से बोलता है, वैसे ही परमात्मा अग्नि से बोलता है। अग्नि परमात्मा की वाणी है। उपनिषद् कहती है कि "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"। इसलिये 'अग्नेः ऋग्वेदः' का अर्थ हुआ कि परमात्मा ने अपनी वाणी से बोलकर ऋग्वेद का ज्ञान दिया।

इस प्रकार जो नित्य ज्ञान, नित्य परमात्मा में सदा एकरस बना रहता है वह उस नित्य ज्ञान को प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में - ब्रह्मा या पूर्व ऋषियों या अग्नि वायु आदित्य देवों की ध्यानावस्थित पवित्र आत्माओं में अवतरित करता है। इन ऋषियों के ध्यानावस्थित निर्विषय मन में अपौरुषेय ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रतिबिम्बित ज्ञान से एकाकार होकर ये ऋषि भी उस नित्य ज्ञान से सम्पन्न हो जाते हैं।

ये ऋषि जब विश्व के कल्याण की कामना से, इस आत्मदृष्ट ज्ञान को स्थूलरूप से व्यक्त करने के लिए वाणी का प्रयोग करते हैं तब जो वाक्य सुनाई देते हैं, उन वाक्यों या मन्त्रों को श्रुतिवाक्य कहते हैं। ये श्रुतिवाक्य ऋषियों द्वारा आत्मा में साक्षात्कार (अनुभव) किये हुए ज्ञान का वाणी में व्यक्तिकरण हैं। इसलिए निरुक्तकार ने, 'यस्य वाक्यं स ऋषिः', की स्वीकृति द्वारा ऋषियों को वेदमन्त्रों के द्रष्टा के साथ साथ कर्त्ता भी माना है।

एक प्रकार ये ऋषि वेदमन्त्रों में निहित गुप्त रहस्यों को अच्छी प्रकार समझने देखने वाले द्रष्टा या गुरु है। जैसे गुरु अपने शिष्यों को अर्थज्ञ बनाने के लिए, शब्द में अदृष्ट बहुत से भावों को समझाता है, वैसे ही ये ज्ञानी ऋषि परमात्मा से प्रदत्त तथा स्वयं दृष्ट इस ज्ञान को जन हित के लिए अपनी वाणी द्वारा बोलकर श्रुतियोग्य व बोधगम्य बनाते हैं। इसलिए ये वाक्य श्रुतिवाक्य या श्रुतिमंत्र कहलाते हैं। जैसे गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान गुरु का माना जाता है. उसके शरीर या उसकी वाणी का नहीं समझा जाता वैसे ही वेद ज्ञान भी परमात्मा द्वारा प्रदत्त होने के कारण परमात्मा का अर्थात् अपौरुषेय है, उन ऋषियों का नहीं। और ये ऋषि इस ज्ञान के द्रष्टा मात्र हैं, कर्ता नहीं।

उपर्युक्त बात की वेदमन्त्रों द्वारा पुष्टि

१. इन वेदों का सबसे प्रथम दर्शन करने वाले, प्रथम उत्पन्न ऋषि जिन्होंने ऋक्, यजुः, साम रूप वाली महती त्रयी को प्रकट किया है, और वह ईश्वर रूपी एकर्षि जिसमें स्थित ज्ञान का ऋषि लोग दर्शन करते हैं—दोनों ही जिसमें स्थित हैं, वह कौन है, उसे जानने का

प्रयत्न करो। वह ब्रह्म है, वह परमात्मा है। यदि इन नामों से सन्तोष नहीं होता या सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होता तो उसे सर्वाधार "स्कम्भ" कह दो।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः॥

अ. १०।७।१४

२. जो ज्ञान सर्वप्रथम या सदा से, बृहस्पति, ब्रह्म स्कम्भ या परमात्मा में दोष रहित पूर्ण तथा पवित्र व श्रेष्ठ रूप में था, वह ज्ञान इन ऋषियों के हृदयों में गुप्त तथा अज्ञात रूप से स्थापित हो गया। तदनन्तर उस ब्रह्म की ही प्रेरणा से, नाम रूप को धारण करने वाले पदार्थों के ज्ञान (नामधेय) को धारण करने वाली वाणियां प्रकट हुई, आविष्कृत हो गई।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋक् १०।७१।१

उन प्रथम ऋषियों में प्रविष्ट हुई सूक्ष्मवाणी को, बाद के ऋषियों ने प्राप्त किया। और (यज्ञेन) उस परमात्मा की कृपा से तथा अपने ध्यान और तप यज्ञ से, उस वाणी के द्वारा ज्ञातव्य (पदवीय) पदार्थों को जाना तथा प्राप्त किया। तदनन्तर अपनी वाणी को बहुत से देशों में प्रसारित किया। इस वाणी को सप्त छन्द ही सम्यक् रूप से नया रूप प्रदान करते रहते हैं।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

ऋक् १०।७१।३

इस सम्पूर्ण सूक्त के अधिकाधिक मनन से वेद ज्ञान तथा मंत्रों के आविर्भाव का विषय स्पष्ट से स्पष्टतर होता प्रतीत होता है।

ऋषियों को समझने के लिए कुछ कल्पनाएं

१. ये ऋषिवाची शब्द अलंकरणसूचक हैं। आजकल जैसे सरकार किसी सामाजिक क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करने पर पद्मश्री, भारतरत्न आदि तथा सेना के किसी अंग में विशिष्ट कार्य करने पर वीर तथा परमवीरचक्र आदि उपाधियां प्रदान करती है, वैसे ही मंत्रों के

प्रवक्ता गुरुओं को मंत्रों के प्रवचन द्वारा प्रसार प्रचार करने के कारण वामदेव, अत्रि, अंगिरा, कण्व, मधुच्छन्दा, विश्वामित्र आदि ऋषिवाची उपाधियां अनायास ही विप्रों से प्राप्त हो गईं। समय व्यतीत होने पर असली नाम लुप्त हो गए और उपाधियों ने नाम का स्थान ले लिया। उदाहरण के रूप में महाभारतकार को सब वेदव्यास के नाम से जानते हैं। उनका असली नाम पाराशर सत्यवतीसुत या कृष्ण द्वैपायन कोई-कोई जानता है। तथा वर्तमान युग में महात्मा गांधी को सब जानते हैं लेकिन मोहनदास कर्मचन्द को बहुत कम जानते हैं। वास्तव में ये ऋषि वे गुरु थे जिन्होंने वेदमंत्रों को स्वयं दर्शन करके दूसरों को अर्थ का दर्शन कराया।

२. आजकल जैसे भारतवर्ष की ४ सीमाओं पर ४ पीठ हैं। इन पीठों पर गुरुशिष्य परम्परा से जो भी बैठता है, उसे उस पीठ का शंकराचार्य कहते हैं। वैसे ही वेद के अमुक-अमुक मंत्र का जो प्रवचन या व्याख्यान करता है अर्थात् उस मंत्र में व्यक्त भावना को अपने जीवन में सार्थक करके, अपने जीवन के उदाहरण द्वारा अपने शिष्यों को क्रियात्मक पाठ पढ़ाता है, वह व्यक्ति इन ऋषि नाम वाची शब्दों से प्रसिद्ध हो जाता है। ऐसा पहले भी होता रहा है। आजकल भी होता है, और आगे भी होता रहेगा।

३. अथवा जैसे बी०ए० कक्षा के लिए नियत पाठ्यक्रम को पढ़कर और उस परीक्षा में पास होकर हजारों लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष बी० ए० बन जाते हैं। वैसे ही मंत्र में निर्दिष्ट रहस्य अर्थ या गुप्त ज्ञान को हृदयंगम करके, अपने जीवन में आचरण द्वारा उस रहस्य या ज्ञान को सार्थक करने वाले व्यक्ति—मंत्र के ऊपर लिखित ऋषि-वाची—कण्व, अत्रि, गौतम, वामदेव, विश्वामित्र, भारद्वाज आदि नामों से विख्यात हो जाते हैं।

क्योंकि आजकल प्रायः लोग विद्या को पढ़ते हैं, गुनते नहीं अर्थात् आचरण में नहीं लाते, इसलिए आजकल ऋषि बनना या कहलाना समाप्त प्राय हो गया है।

वाणी विभाग के सन्दर्भ में ऋषि विचार

भारतीय शास्त्रकारों ने वाणी को ४ भागों में विभक्त किया है। तथा वैखरी मनुष्य की बोली हुई वाणी का विश्लेषण करके यह माना गया है कि :-

१. मनुष्य जिस वाणी को बोलता है और सुनता है वह वैखरी है।
२. बोले जाने के पूर्व मनुष्यों के अन्दर जो वाणी कण्ठ तक शब्दरूप में स्थित होती है वह मध्यमा है।
३. शब्दरूप ग्रहण करने से पहिले जो भाव (आइडिया) रूप एक ज्ञान उत्पन्न होता है, वाणी के उस रूप को पश्यन्ती कहते हैं। यह भाव या ज्ञान व्यक्तरूप में न होकर अव्यक्तरूप या अस्पष्टरूप में होता है, लेकिन आत्मा में इसकी अनुभूति या दर्शन हो रहा है।
४. वह अनन्तज्ञान जो हमारी आत्मा में है, क्योंकि जो ज्ञान हमारी आत्मा में नहीं, उसे किसी प्रकार प्रकट भी नहीं किया जा सकता। किन्तु जिसका हमें अस्पष्ट आभास भी नहीं, ज्ञान की उस स्थिति को वाणी का चतुर्थ भाग परावाणी कह सकते है।[1]

इस रूपक को वेद के सम्बन्ध में देखिये

१. नित्य परमात्मा में सदा रहने वाला नित्यज्ञान, वेद या वेदमंत्रों को परावाणी समझना चाहिए। यह परावाणी ब्रह्म ईश्वर या एकर्षि में रहती है।
२. इस नित्य ज्ञान या परावाणी को, जब ऋषि लोग अपनी पवित्र आत्मा में संक्रमित होते हुए अनुभव करते हैं, उसका साक्षात् करते हैं, उसे देखते हैं, तब वेद या वेद मंत्रों को पश्यन्ती वाणी समझना चाहिए। यह पश्यन्ती वाणी अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा नाम वाले ४ देवों में अथवा प्रथम ऋषियों में रहती है।
३. इन चार ऋषियों अथवा ब्रह्म के ४ मुखों में स्थित इस वाणी को अन्य ऋषि देखते हैं, और ये ऋषि मानव कल्याण की कामना से मंत्ररूप व्यक्त वाणी में बोलते हैं। यह इन ऋषियों द्वारा व्यक्त वेदवाणी मनुष्य के श्रवण का विषय बनती है इसलिए श्रुति कहलाती है।

ये मंत्र-ऋक्, यजुः, साम, तीन प्रकार के होते हैं। इसलिए इस श्रुति का नाम त्रयी पड़ जाता है। यह वेदवाणी इन ऋषियों द्वारा देखी गई वाणी का श्रुतिपथगम्यरूप होता है।

---

१. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
ऋक् १.१६४.४५

इसलिए इसे मध्यमा कहते हैं । यह मध्यमा वाणी पवित्र हृदयवाले तपस्वी ऋषियों में रहती है । वे जब इसका उच्चारण करके इसे श्रुति रूप देते हैं, तब इन्हीं की वाणी या वाक्य होने के कारण 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' निरुक्त सिद्धान्त के अनुसार ये ऋषि इन मंत्रों के द्रष्टा तथा कर्ता दोनों बन जाते हैं ।

४. इसके बाद श्रुतिरूप धारण करने के बाद वेद-मंत्र जब पिता-पुत्र या गुरुशिष्य परम्परा द्वारा मनुष्यों में प्रस्तुत हो जाते हैं, या यह वाणी सर्वत्र बिखर जाती है अथवा अक्षरों द्वारा पुस्तकों में छप जाती है तब यह वैखरी वाणी कहलाती है ।

श्रुति रूप में चलते हुए गुरुशिष्य की योग्यता तथा समझ के भेद से कभी-कभी जानते हुए और कभी-कभी अनजाने शब्द बदल जाते हैं । इसलिए वेदमंत्रों में पाठभेद दिखाई देता है । श्रुति रूप के बाद ऋषि गोत्रों में प्रवर्तित होने और लिखित रूप में प्रकाशित होने के बाद भी :-

मानवहित में लगे हुए (ऋषिः स यो मनुर्हितः), मानव मात्र का कल्याण चाहने वाले (भद्रमिच्छन्तः ऋषयः), तप और संयम का जीवन बिताने वाले (ऋषीन् तपस्वतो यम), बुद्धि की साधना में निरन्तर रत रहने वाले (प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः), दिव्यगुणों को अपने अन्दर धारण करके (देवपुत्रा ऋषयः) दूसरों के लिए इन दिव्य गुणों का प्रकाश करने वाले और उन्हें मार्ग दर्शन करने वाले (ऋषिभ्यः पथिकृद्भ्यः) मनुष्य भी ऋषि तुल्य होने के कारण ऋषि ही कहे जा सकते हैं ।

इसलिए वेदव्यास, दयानन्द और अरविंद ऋषि उपाधि से विभूषित किए गए हैं । और भविष्य में भी वेद मंत्रों के यथार्थ का साक्षात् करने वाले निष्काम विद्वान् ऋषि पद को प्राप्त करते रहेंगे ।

इन ऋषियों द्वारा प्रोक्त वाक्य भी मंत्र बनने की शक्ति रखते हैं । और मंत्रों का प्रवचन करने के कारण ऐसे व्यक्ति ऋषि कहलाते हैं ।

पाश्चात्य मत विमर्शन

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद में इतिहास और वेद में आए ऋषि-नामों के दिखने से उसे ४-५ हजार वर्ष पूर्व लिखा गया मानवीय ग्रन्थ मानने के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि :—

वेद को भारतीय परम्परा के अनुसार अनादि या सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट पुस्तक न मानने पर भी वे इसे विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ मानते हैं। अर्थात् मनुष्यों को मार्ग दर्शन कराने वाला, कोई मानव विधान इससे पूर्व नहीं था।

जब प्रारम्भ में मनुष्यों को अपने नाम रखने की इच्छा हुई और उन्होंने नदी पर्वत, या जनपदों को पृथक्-पृथक् जानने की इच्छा से इनका नाम करण करना चाहा तो उन्हें वेद में से ही अपनी पसन्द के नाम चुनने पड़े। इसी तथ्य को मनुस्मृति के १२-१ में निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है :—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

वेद के इसी महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए श्री शंकराचार्य ने कहा था कि सहस्रों माता पिताओं की अपेक्षा वेद अधिक कल्याणकारी है— **वेदो ननु परमो बन्धुः।**

इसी बात को व्यतिरेक द्वारा सोचिये कि क्या आज :—

१. किसी का मोहम्मद नाम देखकर यह मान लेंगे कि कुरान का निर्माता यह व्यक्ति है अथवा

२. किसी का नाम क्राईस्ट सुनकर उसे बाइबल का कर्त्ता मानकर उसकी पूजा करने लगेंगे अथवा

३. वेद में राजेन्द्र शब्द को देखकर आप यह कल्पना कर सकेंगे कि ये वाक्य या प्रार्थना हमारे प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद से की गई है।

जब इन तीनों बातों में कोई समझदार विश्वास नहीं कर सकता तो क्या कारण है कि वेद को विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक होते हुए भी उसे ३-४ हजार वर्ष में हुए ऋषियों की कृति मानने का दावा किया जाता है।

इन सब ऋषियों के नाम जो पुराणों की वंशावलियों में परिगणित हुए हैं, वेद के शब्दों में से ही अपनी पसन्द के अनुसार चुनकर इन ऋषियों द्वारा स्वयं या उनके माता पिताओं द्वारा स्वीकार किए गये थे। जैसे आज भी दो भाइयों के नाम राम लक्ष्मण या चार भाइयों के नाम बाल्मीकि रामायण के आधार पर राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न और पाँच भाइयों के नाम महाभारत के आधार पर युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल सहदेव रख देते हैं।

इसलिये वेद में आए हुए राजाओं या ऋषियों के नामों को

देखकर वेद को इन ऐतिहासिक ऋषियों की कृति या इन ऋचाओं का समकालीन नहीं माना जा सकता।

२. वेदमंत्रों के ऊपर दिए हुए ऋषि-नामों को सर्वत्र कर्ता नहीं माना जा सकता। क्योंकि बहुत से मंत्रों के ऋषि :—

(क) श्येन, तार्क्ष्य, पतंग, कपोत आदि पक्षी ;
(ख) वृषाकपि, सरमा देवशुनी, सप्तिः आदि पशु;
(ग) कूर्म, मत्स्य, आदि जलचर और
(घ) सर्प, गोधा, वम्र, आदि रेंगने वाले जन्तु बताए गए हैं।

ये प्राणी मनुष्य में उपलब्ध सामान्य ज्ञान से भी रहित हैं, फिर ये इतने उच्च ज्ञान का निर्माण कैसे कर सकते हैं। हां ऋषियों को द्रष्टा मानने वाले पक्ष में इन्हें इन मंत्रों में निहित ज्ञान की प्रेरणा देने वाला, दर्शयिता गुरु माना जा सकता है। महाभारत में ऐसे कई ऋषियों का वर्णन है, जिसमें से किसी ने वक, हंस, आदि पक्षियों को, किसी ने नदी पर्वत आदि को और किसी ने वायु सूर्य आदि को अपना गुरु माना हुआ है।

३. कुछ मंत्रों के ऋषि अग्नि, इन्द्र, यम, सूर्य, रात्रि आदि प्राकृतिक शक्तियां मानी गई हैं। वैदिक भाषा में इन्हें प्राकृतिक देव भी कहते हैं।

४. कुछ मंत्रों के ऋषि अक्षो मौजवान्, कवष (कवच या ढाल), पर्वतः, नद्यः, रेणुः, सिकता आदि जड़ पदार्थ माने गये हैं।

५. कुछ मंत्रों के ऋषि-दक्षिणा, श्रद्धा, मन्युः आदि भावना-वाची गिनाए गए हैं।

६. कुछ मंत्रों के ऋषि—कुसीदी, कृत्नु, सुदीतिः जेता पुरुहन्मा आदि विशेषता को दर्शाने वाले विशेषणवाची नाम माने गये हैं।

ये सब नाम ऋषियों के द्रष्टा-वाद को तो पुष्ट करते हैं। क्योंकि ये सब प्राकृतिक देव, जड वस्तुएं, पक्षी पशु जलचर तथा सरीसृप भी अपने स्वभाव द्वारा मार्गदर्शन करने द्वारा द्रष्टा-मार्गदर्शयिता या गुरु माने जा सकते हैं। किन्तु कर्ता-वाद को सहज ही निरस्त करते हैं।

इसके साथ ही विशेषणवाची जेता, कुसीदी, कृत्नु, भिक्षु आदि नाम इस बात का संकेत करते है कि :—

इन मंत्रों में निहित रहस्य को अपने जीवन में सार्थक करने वाला ही जेता, या कृत्नु आदि बन सकता है। अथवा व्याज का व्यवहार करने वाला

ही इस मंत्र के रहस्यार्थ को जान सकता है । अथवा जो सारे जीवन में भिक्षु बनकर दर दर घूमा है वही इस मंत्र के रहस्य को अनुभव द्वारा समझने के कारण सबको भिक्षा के अवगुणों को दर्शाता है ।[1]

इन विशेषणों की तरह से वेद-मंत्रों के सब ऋषिवाची नाम विशेषण तुल्य अर्थात् सार्थक समझे जाने चाहिएं ।

ऋषिवाचक शब्द सार्थक हैं

१. वेदार्थ को भली भांति समझने के लिए ऋषि देवता तथा छन्द का ज्ञान आवश्यक माना गया है । देवता है, विषय; वर्णन की एक शैली या (लहजा) प्रकार; किसी ग्रन्थ को समझने के लिए इन दोनों का ज्ञान सर्वसम्मत रूप से आवश्यक स्वीकार किया गया है ।
परन्तु किसी ग्रन्थ को समझने के लिए उसके लेखक का ज्ञान आवश्यक नहीं है ।
हां यदि लेखक की उपाधि दी हुई हो तो यह समझा जा सकता

---

१. क. ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ।।
ऋक् ४.२३ ८
यह उक्ति वामदेव गोतम ऋषि की अपने जीवन अनुभव के आधार पर है ।

ख. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरद् ऋजीयः तदित्सोमो अवति हन्त्यासत् ।।
ऋक् ७.१०४.१२
मैत्रावरुणिः वसिष्ठ अपने अनुभव के आधार पर शिष्यों को यह समझा रहे हैं ।

ग. उत यो द्यामति सर्पात्परस्तात् न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ।।
अथर्व ४.१६.४
ब्रह्मा—सबसे बड़ा ऋषि जब यह बात कहे तभी इसका महत्त्व है ।

घ. पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।।
ऋक् १०.११७.५
ऋषिः—भिक्षुः आंगिरसः ही यह उपदेश बलपूर्वक दे सकता है ।

है कि यह ग्रन्थ कितनी योग्यता से लिखा या सम्पादित किया गया होगा। उसी प्रकार यदि वेद के ऋषियों को उपाधिरूप माना जाए अथवा इन नामों को सार्थक माना जाए तो इनके ज्ञान को आवश्यक मानना सार्थक हो सकता है।

२. वेद मंत्रों में त्वम्, अहम्, अयम, यः, सः, आदि सर्वनाम शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है। ये सर्वनाम जिन नामों के बदले आए है, वे ऋषि या देवता नाम यदि अनर्थक हों तो अर्थज्ञान के लिए उनका ज्ञान आवश्यक नहीं हो सकता। जब इनका ज्ञान आवश्यक माना गया है तो इनको सार्थक ही माना जाना चाहिए।

३. ऋग्वेद में १०-७१ सूक्त तथा अन्य अनेक स्थलों में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो संकेत करते हैं कि ऋषिवाची शब्द सार्थक है, मनुष्यवाची या अनर्थक नहीं है।

वाचः नामधेयं दधानाः ते वाचः पदवीयमायन्। ऋषयः। नाम या शब्द होता है आधार—**गौ**, अश्व आदि। इन शब्दों द्वारा जिन रक्तमांसयुक्त **गौ**—अश्व इत्यादि पदार्थों का बोध होता है, वे पदार्थ इन शब्दो या नामों के आधेय होते हैं, और इन नाम (आधार) तथा पदार्थ (आधेय) का सम्बन्ध ज्ञान ही पदवीय कहाता है।

वाणी के इस नामधेय को धारण करने वाले ये ऋषिवाची नाम मंत्रों के साथ सदा से चले आ रहे हैं। इन नित्य सम्बन्धों को बतानेवाली ऋषि-नामों में प्रविष्ट उस वाणी को ऋषि ही प्राप्त कर सकते हैं। '**तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।**'

इससे ध्वनित होता है कि ऋषिनाम वाले शब्द सार्थक हैं। और ये शब्द अपने में निहित अर्थ व गुण को धारण करने की प्रेरणा करते हैं। इन गुणों को अपने अन्दर धारण करनेवाला तत्त्ववेत्ता व्यक्ति, अमुक-अमुक मंत्र के ऋषि नाम वाली उपाधि को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

बहुत से मंत्रों के अर्थ—ऋषि-वाची शब्द का व्याकरण या निरुक्त की पद्धति द्वारा अर्थ किए बिना—स्पष्ट नहीं होते तथा वे वाक्य अपूर्ण से मालूम होते हैं। इसलिए वेदार्थ को भली भांति समझने के लिए ऋषि ज्ञान तथा उसके रहस्यार्थ अथवा नामधेय का ज्ञान परम उपयोगी है।

सिद्धान्त पक्ष

ऋ'षि मंत्रों के द्रष्टा हैं या कर्त्ता है'। इस विषय पर विशद विवेचन के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि :—

ज्ञान आत्मा का गुण है । परम ज्ञान (वेद), नित्य तथा त्रिकाल एकरस परमात्मा का ज्ञान होने से नित्य तथा एकरस है और त्रिकालसत्य है । यह ज्ञान प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा की कृपा से उग्रतपःपूत पवित्र प्रथम ऋषियों की आत्मा में संक्रमित या आविर्भूत होता है ।

ये ऋषि की कृपा से अपने तप के प्रभाव से अपनी अन्तरात्मा में निहित इस ज्ञान का दर्शन करते हैं । तब यह ज्ञान सविकल्प बनता है तदनन्तर प्राणिमात्र के कल्याण की कामना से ये ऋषि अपने दृष्ट या गृहीत ज्ञान को वाणी में प्रकट करते हैं । इनकी यह वाणी अवर ऋषियों द्वारा श्रुति-पथगामिनी होने से श्रुति कहलाती है ।

ये पूर्व ऋषि वेदज्ञान का दर्शन करने के कारण मंत्रों के द्रष्टा कहलाते हैं । और ज्ञान को वाणी का रूप प्रदान करने से इन्हें मंत्रों के कर्त्ता भी कह सकते हैं । जैसे स्वर्णकार स्वर्ण का निर्माता न होकर पूर्वोपलब्ध स्वर्ण का आभूषण बनाने वाला होता है ।

मंत्रों के ऋषि उसी प्रकार कर्त्ता हैं, जिस प्रकार जगत् में किसी विद्वान् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ का कर्त्ता उसके हाथ या लेखनी को मान लिया जाए । जैसे ग्रन्थकर्त्ता कोई मनुष्य होता है, उसकी लेखनी, वाणी या हाथ नहीं वैसे ही मंत्रों का कर्त्ता ईश्वर है, ऋषि नहीं ।

इस बात की पुष्टि निरुक्तकार के वाक्य—'यस्य वाक्यं स ऋषिः' तथा 'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः' तथा स्वामी दयानन्द के शब्द—'ये साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ताः, यैः सर्वा विद्या यथावद्विदिता, येऽवरेभ्यो ह्यसाक्षात्कृतवेदेभ्यो, मनुष्येभ्य उपदेशेन—वेदमन्त्रान् मन्त्रार्थांश्च सम्प्रादुः, तस्मात्ते ऋषयो जाताः (ऋग्वेद भाष्य १-१-२) भी पूरी तरह करते है ।

ये ऋषि दो प्रकार के हैं एक पूर्व ऋषि या महर्षि । ये चार हैं—अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा । इनके हृदय में परमेश्वर ने वेद ज्ञान की प्रेरणा की । दूसरे नूतन ऋषि या श्रुतर्षि हैं । इन्होंने बड़े श्रम और तप से वेद के तत्त्वार्थ को समझा और उसका प्रचार किया । इन ऋषियों के नाम मन्त्रों के ऊपर दिये हुए हैं ।

'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । ऋक् १-१-२

E.B.L. Oriental Series :

1. THĀIDEŚAVILĀSAM—Satya Vrat Shastri 40.00
2. YOGA-KARṆIKĀ OF NATH AGHORĀNANDA With Eng. Intro. & Index— N.N. Sharma 50.00
3. ĀŚVALĀYANA GṚHYASŪTRAM Text, Sanskrit Commentary of Nārāyaṇa, English Translation, Introduction and Index—N.N. Sharma 70.00
4. THE LIFE OF THE BUDDHA—H.C. Warren (Foreword by Charles R. Lanman) 45.00
5. KALPACINTĀMAṆI OF DĀMODARA BHAṬṬA Text, English Translation—N.N. Sharma. 100.00
6. PĀTAÑJALA YOGA SŪTRA : A CRITICAL STUDY In the light of Tattva-Vaiśāradī & Yoga-Vārttika (In Hindi) —Pavan Kumari 80.00
7. ANCIENT KAMBOJA : PEOPLE AND COUNTRY (प्राचीन कम्बोज : जन और जनपद)—जियालाल काम्बोज 75.00
8. ANCIENT INDIAN CULTURE & LITERATURE (Pt. Ganga Ram Commemoration Volume, Golden Jubilee Celebration Lectures, Sanskrit Deptt. Ramjas College, Delhi) —Ed. Mohan Chand 75.00
9. KENOPANIṢAD EVAM VAIDIC STABAKA —Suman Sharma 8.00
10. VAIDIKA SAṀGRAHA—Krishan Lal 15.00
11. RAGHUVAṀŚAM (Second Canto)—Pavan Kumari 6.00
12. ŚAKTI AND HER EPISODES—Pushpendra Kumar 40.00
13. BHAIRAVA VILĀSA—Brahmatra Vaidyanātha 10.00
14. KṚṢṆĀBHYUDAYAM—Lokanātha Bhaṭṭa 10.00
15. RELIGIOUS SECTS IN ANCIENT INDIA-D.A. PAI 100.00
16. VEDA MĪMĀṀSĀ—L.D. Dixit 40.00
17. ABHIDHĀ VIMARŚA—Y.D. Sharma 40.00
18. BHĀGAVATA PURĀṆA MEṀ PREMA TATTVA —R.C.Tiwari 100.00
19. ŚVETĀŚVATAROPANIṢAD—T.R. Sharma 25.00
20. ĪŚĀVĀSYOPANIṢAD—Madhubala Sharma 2.00
21. SANSKRIT-VĀṄMAYA MEṀ NEHRU—Madhubala 25.00
22. श्यैनिकशास्त्रम् (THE ART OF HUNTING IN ANCIENT INDIA)—Mohan Chand 70.00
23. योगसारसंग्रह—विज्ञानभिक्षु (मूल, हिन्दी व्याख्या और टिप्पणी आदि सहित) —पवन कुमारी 25.00
24. संस्कृत व्याकरण की रूपरेखा—यज्ञवीर 25.00
25. सौन्दरनन्दमहाकाव्यम् (पञ्चमः सर्गः) 10.00